प्रह्लाद

(प्राच्यविद्याओं की त्रैमासिक शोध-पत्रिका)

सम्पादक

डा० विष्णुदत्त राकेश

पी-एच डी., डी लिट्

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग

संयुक्त-सम्पादक

डा० विनोदचन्द्र सिन्हा

एम ए., पी-एच डी

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष

प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व

अक्तूबर, १९८६

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

❀ विषय-सूची ❀

'प्रह्लाद' के मुख-पृष्ठ पर अंकित चित्र का परिचय

हिमालय पर्यावरण योजना के तहत १ अगस्त १९८६ से आयोजित बारहदिवसीय वृक्षारोपण शिविर के उद्घाटन का दृश्य। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति श्री रामचन्द्र शर्मा स्वागत करते हुए। दायें से माननीय ब्रह्मदत्त जी शर्मा, पेट्रोलियम राज्यमन्त्री, भारत सरकार (मुख्य अतिथि), स्वतन्त्रता सेनानी श्री चन्द्रसिंह रावत, पूर्वब्लाकप्रमुख (अध्यक्ष) तथा आयोजन के संयोजक डा० बी० डी० जोशी।

कुलपति प्रो० रामचन्द्र शर्मा (अवकाशप्राप्त आई०ए०एस०) नवस्नातकों को उद्‌बोधित कर रहे हैं।
साथ मे प्रो० वीरेन्द्र अरोड़ा, कुलसचिव खड़े हैं।

विश्वविद्यालय के परिद्रष्टा डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, विश्वविद्यालय के कानूनी सलाहकार श्री सोमनाथ मरवाहा तथा कुलसचिव श्री वीरेन्द्र अरोड़ा दीक्षान्त-स्थल से लौटते हुए।

वैदिक वन्दना

ॐ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव
यद् भद्रन्तन्न आ सुव ।

(यजुर्वेद ३०/३)

अर्थ—हे सकल जगत् के उत्पत्तिकर्त्ता, समग्र ऐश्वर्ययुक्त शुद्ध स्वरूप, सब सुखों के दाता परमेश्वर ! आप कृपा करके हमारे सम्पूर्ण दुर्गुण, दुर्व्यसन और दु:खों को दूर कर दीजिए जो कल्याणकारक गुण, कर्म, स्वभाव और पदार्थ हैं, वह हम सब को प्राप्त कराइए ।

—महर्षि दयानन्द सरस्वती

विश्वदेव सविता करुणाकर दुरित हमारे दूर करो,
मंगलकारी सुखद वृत्तियों के रस से नित हृदय भरो,
हे अनन्त रत्नों के स्वामी बुद्धिप्रदायक वरदाता,
मृत्यु, रोग, दारिद्र्य दुःखहर चिन्मय ज्योति कलश वितरो ।

—विष्णुदत्त राकेश

सम्पादक की कलम से—

लगभग १ वर्ष के अन्तराल के बाद प्रह्लाद फिर आपके हाथ मे है। नये कुलपति श्री रामचन्द्र शर्मा, निवृत्त आई० ए० एस० के आगमन के बाद जहाँ पठन-पाठन, लेखन-प्रकाशन तथा शोध-कार्यों मे गति आई, वहाँ कुछ कारणों से स्थगित यह शोध-पत्रिका पुनः प्रकाशनो की कतार मे आ खडी हुई। इसके लिए कुशल शासक तथा दक्ष शिक्षाशास्त्री कुलपति श्री शर्मा के प्रति हम हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं। आशा है, हमारे पाठक और सुधी लेखक भी इस पत्रिका को पूर्ववत् स्नेह-सहयोग देते रहेगे।

'मानविनी भवाई' ज्ञान-पीठ से सम्मानित

गुजराती के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार पन्नालाल पटेल का उपन्यास 'मानविनी भवाई' १९८५ के ज्ञान-पीठ पुरस्कार से सम्मानित हुआ है। मामूली शिक्षाप्राप्त श्री पटेल अपूर्व प्रतिभा के धनी हैं। महाविद्यालयों की औपचारिक शिक्षा-सीमाओ मे न बँधकर, जीवन के विश्वविद्यालय में उन्होने जिस गहराई के साथ प्रवेश किया है, उसी का परिणाम है कि सामान्य जनजीवन के सघर्ष एव कष्ट-पीडाओ को भीतर तक झाँककर ईमानदारी से व्यक्त कर सकने की अपूर्व सामर्थ्य उन्हे सहज प्राप्त हो गई है। गुजराती के अन्य ज्ञानपीठ विजेता साहित्यकार श्री उमाशकर जोशी उनके सहपाठी रहे हैं।

पन्नालाल जी का जन्म १७ मई १९१२ को गुजरात-राजस्थान की सीमा पर स्थित माडली नामक गाँव में हुआ। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा स्कूल मे हुई और फिर घुमक्कड जीवन जीने की इच्छा ने उन्हे घर छोडने को विवश कर दिया। यथार्थ संसार से सीखने का अवसर उन्हे भरपूर मिला। अपने सुरीले कठ से जब वह लोकगीत गाते, हजारो ग्रामीण उन्हे घेर लेते। ग्रामीणो के जीवन को निकट से देखने और समझने का अवसर इसी माध्यम से उन्हे मिला। अनुभवो की मधुर-तिक्त दुनियाँ को अपने भीतर पचाए हुए वह दुर्निवार अभिव्यक्ति की तलाश मे भटकते रहे। श्री उमाशंकर जोशी यदि उन्हे लेखन की ओर प्रवृत्त न करते तो 'मानविनी भवाई' जैसी महनीय रचना से भारतीय साहित्य वचित ही रहता। श्री जोशी ने ही श्री पटेल का परिचय प्रसिद्ध कवि तथा कथाकार श्री सुन्दरम् से कराया। श्री पटेल श्री सुन्दरम् से साहित्यिक सलाह लेते रहे।

उनकी पहली कहानी 'शेठनी शारदा' श्री झँवेरचन्द मेघाणी ने प्रकाशित की। १९४० मे उनका पहला लघु उपन्यास 'बलामणां' प्रकाशित हुआ। इसकी भूमिका श्री मेघाणी ने लिखी थी। इन रचनाओं की पृष्ठभूमि ग्रामीण-परिवेश

पर निर्मित थी। उस परिवेश पर जिसकी सहज और निश्छल सवेदनाओ ने श्री पटेल की आत्मा को बहुत दूर तक झकझोर दिया था। क्षेत्रविशेष की बोलियो का किया गया प्रयोग रचनाओ को यथार्थ रूप देने मे सफल सिद्ध हुआ और श्री पटेल इन रचनाओ के साथ ग्रामीण जीवन के कुशल चितेरे घोषित कर दिए गए।

१९४५ मे उन्होने एक और अच्छी रचना 'मलेला जीव' प्रकाशित कराई। काजी और जीवी की त्रासदीपूर्ण प्रेमकथा इस रचना का प्रतिपाद्य थी। साहित्य अकादमी ने भारतीय भाषाओ मे जिन श्रेष्ठ कृतियो को अनुवाद के लिए चुना था, उनमे यह एक थी। १९४७ मे श्री पटेल की अमर रचना 'मानविनी भवाई' प्रकाशित हुई। इसमे १९४६ के भयकर अकाल से त्रस्त गुजरात के ग्रामीण अचलो के जनजीवन की सघर्षपूर्ण कहानी कही गई है। दैव की प्रतिकूलता और निराशापूर्ण परिस्थितियो मे भी इस रचना का नायक 'काकू' अपनी सम्पूर्ण दुर्बलताओ के बावजूद घुटने नही टेकता। उसकी प्रेमिका राजू एक साधारण नारी होकर भी उस अदम्य जीवनेच्छा तथा प्रेम की ऊर्जा से परिपूर्ण है जो 'काकू' को हर टूटन के समय बाँध की तरह बहने से बचा लेती है। ईर्ष्यालु तथा छोटे मन की दुनियाँ मे यद्यपि यह प्रेमी-युगल कभी दाम्पत्य-सूत्र मे न बँध सका, पर शरीर और मन की भूख के उस विकराल वातावरण मे जिस बहादुरी और क्षमादान कर सकने वाले उदार मन के साथ उन दोनो ने मानव की गरिमा को सुरक्षित रखने की चेष्टा की, वह भारतीय भाषाओ के साहित्य मे दुर्लभ तो नही, विरल अवश्य है। वर्षा की पहली फुहार के साथ समाप्त होने वाले इस उपन्यास मे आशा की उस उज्ज्वल किरण की स्थापना की गई है जो व्यक्ति को मरने से बचाती है। विपरीत परिस्थितियो मे भरपूर दमखम के साथ जीने वाले मनुष्य की विजय इन फुहारो मे झर पडी है। श्री पटेल का रचना-ससार बडा व्यापक है पर सम्पूर्ण ओज तथा प्रभा के साथ 'मानविनी भवाई' से वह सदैव याद किए जायेंगे।

श्री पटेल गुजराती के आँचलिक कथाकार है। मलेला जीव, बलामणा तथा मानविनी भवाई जहाँ ग्राम्य अचल की कथाएँ हैं वहाँ यौवनसुरभि तथा भीरु साथी मे नागरजीवन की सवेदनाएँ अभिव्यक्त हुई हैं। आपके कहानी-संग्रहों में जीवो दाउँ, सुख दुख ना साथी, जिदगी ना खेल, लख चौरासी, साचा-समणा, पानेतर नारग, वात्रक ने काठे तथा अजब मानवी उल्लेखनीय हैं। जमाईराज नामक नाटक भी लोकप्रिय हुआ है। ●

सांसद् और साहित्यकार श्रीकांत वर्मा

मुक्तिबोध के बाद की दूसरी पीढ़ी के तेजस्वी और धारदार कवियो मे श्रीकांत वर्मा अग्रणी रहे। दो बार राज्यसभा के सदस्य रहे तथा इन्दिरा कांग्रेस

के महासचिव के रूप मे इन्दिरा-दर्शन के प्रतिबद्ध सिपाही-लेखक की भूमिका निभाते हुए २७ मई १९८६ को दिवगत हो गये।

श्रीकांत का जन्म १८ सितम्बर १९३१ को मध्य प्रदेश के विलासपुर में हुआ। १९ वर्ष की आयु तक जीवन सुखपूर्वक बीता पर जमीदारी उन्मूलन के बाद पिता की आर्थिक स्थिति डॉवाडोल हो जाने से उनकी शिक्षा बी० ए० से आगे न हो सकी। १९५२ मे बी०ए० उत्तीर्ण कर हाईस्कूल मे अध्यापक हो गये। बाद मे व्यक्तिगत छात्र के रूप मे उन्होने नागपुर से हिन्दी मे एम०ए० किया। नागपुर मे उनका सम्पर्क मुक्तिबोध तथा नरेश मेहता से हुआ। मेहता जी के प्रयाग जाने के बाद से श्रीकात जी मुक्तिबोध से गहराई के साथ जुडते चले गये। उनकी रचनाएँ प्रारम्भ में नई दिशा, सकेत, निकष तथा नया खून मे प्रकाशित हुई। गीत की प्रणय-कल्पनाजीवी दुनियाँ को छोड़कर जीवन के प्रतिमुखी प्रवाह मे अपने को धँसा देना श्रीकात जी की विवशता थी और यह दुर्निवार पकड मुक्तिबोध की त्रासद जीवनी से श्रीकात जी को मिली थी। साहित्य, नई कविता, नई कला, राजनीति और बौद्धिक सवेदनाओ की महीन से महीन चादर बुन देना उन्हे बखूब आता था।

सितम्बर १९५६ मे वह दिल्ली आए। 'भारतीय श्रमिक' का सम्पादन किया। १९५८ मे 'कृति' नामक पत्रिका का सम्पादन किया। इसके ४० अक प्रकाशित हुए। रघुवीर सहाय, कुँवरनारायण, निर्मल वर्मा, मनोहरश्याम जोशी, हरिशकर परसाई, नामवर सिह, केदारनाथ सिह, मार्कण्डेय तथा अशोक वाजपेयी जैसे साहित्यकारो ने कृति को अपना आशीर्वाद दिया। नई कविता के कृती रचनाकारो को प्रतिष्ठित करने मे 'कृति' का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। ऐतिहासिक तथा सास्कृतिक चेतना के स्तर से वैयक्तिक चेतना के स्तर तक की टकराहट, निजी स्वर और नई भाषा की बुनावट मे इन काव्यान्दोलनो द्वारा व्यक्त हुई। छोटे-से-छोटे व्यास की रचना मे चिथडे-चिथडे होते हुए विराट् की अभिव्यक्ति इस धारा की कला की प्रमुख विशेषता है।

१९५७ मे उनका सग्रह 'भटका मेघ' प्रकाशित हुआ था पर आलोचको की दृष्टि इधर नही गई। बुखार मे कविता, समाधि-लेख, घर धाम, दिनचर्या, दिनारम्भ, माया दर्पण, प्रेम वक्तव्य और पटकथा उनकी श्रेष्ठ कविताएँ भी १९६१ के दिनो मे लिखी गई। माया दर्पण की कविताओ मे उन्होने काव्यात्मक अभिव्यक्ति का शिखर छू लिया था। भाषा, सवेदन, सम्प्रेषण और वस्तु के बहु-आयाम उनकी कविताओ की गुणवत्ता की पहचान कराते है। १९६५ मे दिनमान के उपसम्पादक होकर उन्होने जीवन को व्यवस्थित करने की चेष्टा की। यहाँ कार्य करते हुए उन्होने तत्कालीन राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर रपट

लिखनी शुरु को और अब कवि वर्मा राजनीतिक सोच के प्रतिनिधि समझे जाने लगे।

लोहिया, मार्क्स और इन्दिरा गाँधी उनके चिन्तन के तीन चरण हैं। आपात्कालीन भारत मे इंदिरा जी के वह प्रचार-प्रमुख थे और बाद मे तो वह इन्दिरा काँग्रेस के चुनाव अभियान के सयोजक ही बना दिए गए। राजनीतिक वर्मा के विचार और दृष्टिकोण से बहुतो को मतभेद हो सकता है पर उनके साहित्यिक अवदान पर मतभेद की गुंजाइश बहुत कम है। उन्होने कहानियाँ भी लिखी। 'झाडी', 'संवाद', 'घर', 'चुनी हुई कहानियाँ' तथा 'दूसरे के पैर' उनके कथासग्रह हैं। 'दूसरी बार' उनका उपन्यास है तथा 'जिरह' नामक आलोचना पुस्तक है जिसमे सम-सामायिक साहित्यिक मुद्दो पर सार्थक बहस मिलती है। अंग्रेजी मे राजीव गांधी की जीवनी 'ए पोर्ट्रेट ऑव राजीव गाँधी' भी लिखी है।

श्रीकात जी मैक्सिको के विख्यात कवि तथा भारतस्थित राजदूत ओक्ता वियोपाज के सम्पर्क मे भी आए। अमेरिका के आयोवा विश्वविद्यालय मे प्रवासी कवि के रूप मे कार्य किया तथा अनेक विदेशी साहित्यकारो के ग्रन्थो का अनुवाद किया। अन्तर्राष्ट्रीय लेखन कार्यक्रम के तहत १९७० मे वह आयोवा गये थे। इस यात्रा मे देशी-विदेशी साहित्य की प्रामाणिक पहचान का अवसर उन्हे मिला।

उनकी अन्तिम काव्यरचना 'मगध' नाम से १९८४ मे प्रकाशित हुई। मायादर्पण और मगध मे कौन रचना श्रीकांत जी की सही पहचान बतलाएगी—यह बहस का मुद्दा हो सकता है पर राजधानी के आलोक मे निर्मित मगध मे वह सब कुछ नही है जिसकी आश्वस्ति मायादर्पण ने दी थी।

कैंसर से उनकी आकस्मिक अकाल मृत्यु हुई। उनकी 'आत्मघात', 'अन्तिम वक्तव्य' और 'शोक' जैसी कविताएँ जीवित हो गईं। ५५ वर्ष की अल्पायु मे उनका निधन गहरे शोक का विषय है। श्रीकात की रचनाओ का विश्लेषण दल के आधार पर नही, सर्जककल्पना और जीवनानुभव की निरन्तरता के आधार पर होना चाहिए। १९५७ मे प्रकाशित और चर्चित उनके गीत की कुछ पक्तियाँ यहाँ उद्धृत हैं

डूब गये कहीं किसी के स्वर, साँझ हुई।
झुझकर मे दिन भर ऊबी पीली धूप, अलसाई दोपहरी अलसाई साँझ
सझा का सोन दिया, सोनराया गाँव, पियराये ताल तलैया खड्हर कूप—
दिन भर बज खेतो मे चुप है अरहर, साँझ हुई।

महुआ डूबे बन की गलियाँ सुनसान
अभी झूल कर सोई साजा की शाख
निंदियाये फूलो की सकुचायी आँख
कही उठी लहर कही टूटे गान, भीगी हैं दो आँखे, भीगा आचर, साँझ हुई। ●

'भारत-भारती' के वैतालिक कवि की जन्मशती

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की जन्म शताब्दी समारोह ३ अगस्त ८६ को राजधानी तथा चिरगाँव मे मनाया गया और इन आयोजनो के साथ साल भर तक पूरे देश मे अनेक कार्यक्रम सम्पन्न होने की आशा बँध गई। केरल हिन्दी प्रचार सभा के प्रधान संयोजक एम०के० वेलायुधन नायर ने राज्य के स्तर पर तिरुवनन्तपुरम, एरणाकुलम, तृश्शूर तथा कोषिक्कोड मे विभिन्न आयोजनो की घोषणा की। राजधानी मे शताब्दी-समारोह के उद्घाटन पर गुप्त जी को श्रद्धाजलि देते हुए उपराष्ट्रपति श्री आर० वेंकटरमन ने हिन्दी मे भाषण देते हुए कहा—"गुप्त जी राष्ट्रीय साहित्य के भाल पर तिलक के समान हैं। स्वतत्रता से पूर्व और बाद मे राष्ट्रकवि के रूप में और राज्यसभा के सदस्य के नाते उन्होने एकता और आत्मबल को अपनी लेखनी से प्रस्फुटित किया। राष्ट्र-भाषा हिन्दी का प्रचार कर उन्होंने भारतीय संस्कृति और एकता को मजबूत धागे मे पिरोने का प्रयास किया।" मानव संसाधन मंत्री श्री पी० वी० नरसिंहा राव ने कहा कि अहिन्दी प्रांतों मे हिन्दी सीखने का जिन्होने प्रयास किया, उनके लिए मैथिलीशरण गुप्त और माखनलाल चतुर्वेदी अप्रत्यक्ष रूप से गुरु के रूप मे थे। उनकी चिंतनयुक्त रचनाओ ने अहिन्दीभाषियो को हिन्दी सीखने के लिए प्रेरित किया। गुप्त जी के ग्रन्थ जयद्रथ वध, भारत-भारती, पचवटी और नहुष तो लाखों लोगो ने कठस्थ कर लिए थे। उन्होने अतीत को देखकर वर्तमान और भविष्य का दर्शन लोगो तक पहुँचाने की कोशिश की। 'साकेत' और 'भारत भारती' उनकी अमर रचनाएँ हैं।

रायबरेली के ताल्लुकेदार राजा रामपाल सिह ने हाली के उर्दू मुसद्दस के समान एक जनजागरण का काव्य लिखने का आग्रह गुप्त जी से किया। गुप्त जी ने हरिगीतिका छन्द मे यह रचना लिखी और छपते ही इसकी दो हज़ार प्रतियाँ बिक गईं। इस राष्ट्र-उद्घोष के वैतालिक यदि गुप्त जी थे तो आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी हिन्दी और लोकजागरण के प्रकल्पक। आचार्य द्विवेदी, मुंशी अजमेरी तथा बार्हस्पत्य जी के परामर्श से यह रचना सोलह महीनों तक लिखी जाने के बाद १९१३ में पूर्ण हुई। हाली का 'मद्दो जजे इस्लाम' मुसलमानों का जागरण-काव्य है। जैसा कि इस नाम से स्पष्ट है, इसमें इस्लाम का ज्वार-भाटा या उत्थान-पतन का इतिहास है। हाली ने कहा—

> पस्ती का कोई हद से गुजरना देखे।
> इस्लाम का गिरकर न उभरना देखे।
> कि कल कौन थे आज क्या हो गए हो तुम।
> अभी जागते थे अभी सो गए तुम।

मुसद्दसे हाली के बीसियों संस्करण प्रकाशित हुए। मुसद्दस में शायराना तखैयुल कम, कौमी भाटपना अधिक था पर गुप्त जी ने इस सकीर्णता को ग्रहण नही किया। भारत-भारती मे दीन-हीन पराधीन देश के निवासियो की पीडा है पर वह किसी एक की न होकर समूचे देश की वाणी है। गुप्त जी समग्र देश की वाणी (भारती) को अपनी कविता का विषय बनाते हैं। भारत के अतीत की गरिमा और वर्तमान की अवनति तथा दुर्दशा का जीता-जागता चित्र भारत-भारती मे है। यह रोने-धोने और छाती पीटने का काव्य नही, सद्वृत्तियो और आशापूर्ण उत्साह के साथ खडे होकर चल पडने का उत्थानसूचक काव्य है। भारतीय सस्कृति की विपरीत परिस्थितियो मे भी न मर मिटने वाली शक्ति इसका केन्द्रभाव है।

प्राचीन और नवीन अपनी सब दशा आलोच्य है,
अब भी हमारी अस्ति है तो भी अवस्था शोच्य है।
कर्त्तव्य करना चाहिए, होगी न क्या प्रभु की दया,
सुख दु ख कुछ हो एक सा ही सब समय किसका गया।

भारत-भारती देश के कोने-कोने मे गूँज उठी। स्वय श्री गुप्त जी ने लिखा है—"भरपूर सतर्कता बरती जाने पर भी सी० आई० डी० की शनिदृष्टि इस पर पडी। कहा गया कि इसमे हिन्दुस्तानियो को 'जनाना हिन्दुस्तान' कहकर भडकाया गया है। भारत माने हिन्दुस्तान, भारती माने जनाना। बहुत-सी पाठशालाओ मे भारत-भारती की अन्तिम 'विनय' का नियमित पाठ होता था। बिहार सरकार ने इस पर आपत्ति की। हाईकोर्ट मे अभियोग उपस्थित किया। चीफ जस्टिस का मत था कि भारतवासियो का विश्वास है कि हमारा देश अतीत मे सर्वगुण सम्पन्न था परन्तु अब दीन-हीन हो गया है। यह कोई आपत्ति की बात नही। तब सरकार को अपनी आज्ञा लौटानी पडी।" इतना होने पर भी अंग्रेजी सरकार ने पुन प्रतिबध लगाया पर क्या होली जलाने के बाद भी भारत-भारती कु ठित और गू गी हो सकी ?

गुप्त जी का जन्म ३ अगस्त १८८६ को हुआ। बडे होकर जब रसिकेन्द्र या रसिकेश नाम से कविता करने लगे तब आचार्य द्विवेदी ने कहा रसिकेन्द्र बनने की इच्छा छोडिए, वह समय गया। गुप्त जी राष्ट्रीयधारा मे बह गए। १६१६ की सरस्वती मे 'भारतीय' उपनाम से गुप्त जी की कविता 'स्वदेश' छपी जो अमरीकी कवि लावेल की कविता का पद्यानुवाद था। द्विवेदी जी उनके काव्य-गुरु थे। वे अन्त तक उनका मार्ग-दर्शन करते रहे। गुप्त जी ने द्विवेदी जी के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करते हुए लिखा—

'करते तुलसीदास भी, कैसे मानस नाद
महावीर का यदि नही, मिलता उन्हे प्रसाद।'

गुप्त जी द्विवेदी जी को 'आचार्य देव' कहकर पुकारते थे।

राष्ट्रीय आन्दोलन और जन-जागरण के काम मे वह गाँधी जी से प्रभावित थे। २३ नवम्बर १६२६ को गाँधी जी चिरगाँव मे उनके अतिथि बने थे। गाँधी जी के प्रति उनकी अनन्य श्रद्धा इन पक्तियो मे मुखर हुई है -

सत महात्मा हो तुम जन के, बापू हो हम दीनो के,
दलितो के अभीष्ट वरदाता, आश्रय हो गतिहीनो के।
आर्य अजात-शत्रुता की उस परम्परा के स्वत प्रमाण,
सदय बधु तुम विरोधियो के, निर्भय स्वजन-अधीनो के।

अप्रैल १६४१ मे वह राजबदी बनाए गए। उनकी रिहाई १४ नवम्बर १६४१ को हुई। गाँधी जी ने इस पर कहा था कि कविता आज उनकी कलम से नही निकलती है वरन् उनके सूत के तारो से निकलती है।

गुप्त जी की राष्ट्रीय चेतना इतनी प्रबल रही कि जब उनका नाम साहित्य सम्मेलन के सभापति पद के लिए प्रस्तुत हुआ तो उन्होने अपना नाम वापिस लेते हुए राजेन्द्र बाबू के नाम का प्रस्ताव किया। स्वतत्रता के बाद गुप्त जी राज्यसभा मे आ गए। १६५४ मे डा० राजेन्द्रप्रसाद जी ने उन्हे 'पद्मभूषण' से सम्मानित किया। १६६३ मे 'सरस्वती' के हीरक जयती समारोह की अध्यक्षता गुप्त जी ने की। राज्यसभा से अवकाश ग्रहण कर आप चिरगाँव आ गए तथा १२ दिसम्बर १६६४ को आपने साकेतवास के लिए महाप्रस्थान किया। हिन्दी के इस लोकनायक कवि को हमारे असख्य प्रणाम।

वेद—आधुनिक जीवन-मूल्यों के सन्दर्भ में

—श्री वेदप्रकाश शास्त्री
रीडर, सस्कृत विभाग,
गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय

यह सर्वविदित है कि वेद मानवजीवन को प्रकाशित करने वाली सर्व-प्राचीन ज्ञान-निधि के रूप मे मान्य हैं। भारतीय मनीषी एव ऋषि-परम्परा के तप पूत एवं दिव्य प्रतिभा के धनी विद्वानो ने वेदो को ईश्वरीय ज्ञान के रूप मे स्वीकार करते हुए वेदो का अपौरुषेयत्व स्वीकार किया है। अतएव आर्य समाज के प्रवर्तक एवं वैदिक धर्म के पुनरुद्धारक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज के तृतीय नियम मे वेदो मे समस्त सत्य विद्याओ को स्वीकार करते हुए प्रथम नियम मे समस्त सत्यविद्या तथा विद्या से जानने योग्य पदार्थों का आदि-मूल परमात्मा को माना है। इससे यह सिद्ध होता है कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है तथा परिपूर्ण हैं। आर्यों ने वेद को स्वत. प्रमाण स्वीकार किया है। अत वेद स्वय मे स्वविषय मे प्रमाणरूप है। वेद मे इस प्रकार के मन्त्र है जिनसे वेद का ईश्वरीय ज्ञान होना सिद्ध होता है, यथा—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋच सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥
यजु० ।३१।७

ऋच सामानि छन्दासि पुराण यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥
अथर्व ।११।७।२४

बृहस्पते प्रथम वाचो अग्र यत्प्रैरत नामधेय दधाना।
यदेषा श्रेष्ठ यदरिप्रमासीत्प्रेणा तदेषा निहित गुहावि ॥
ऋग्० ।१०।७१।१

यस्मात्पक्वादमृतं सबभूव यो गायत्र्या अधिपति र्बभूव।
यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपास्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥
अथर्व ।४।३५।६

महाराज मनु ने संसार की समस्त प्रवृत्तियो का उद्गमस्थल वेदो को ही स्वीकार करते हुए ईश्वरीय ज्ञान के रूप मे वेदो को मान्य कहा है—

> अग्निवायु रविभ्यस्तु त्रय ब्रह्म सनातनम् ।
> दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजु साम लक्षणम् ॥
> मनु० २।२३

> अनादि निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ।
> आदौ वेदमयी विद्या यत सर्वा प्रवृत्तय ॥
> महा भा शांति । २३२/२४

पाश्चात्य जगत के मूर्धन्य मनीषियो ने वेद को अपौरुषेय स्वीकार किया हो या न किया हो परन्तु ससार की प्राचीनतम ज्ञाननिधि के रूप मे तो अनेक विद्वानो ने स्वीकार किया ही है। प्रो० मैक्समूलर ने—"Rigveda is the oldest book in the literary of mankind" कहकर वेद को सर्वप्राचीन सिद्ध किया है।

वेद सृष्टि के ज्ञान-विज्ञान के आगार हैं। सतप्त और दु खी मानवजाति को स्वकल्याण के प्रशस्त-पथ का ज्ञान वेद के आलोक से ही सम्भव है। वेद का ज्ञान सर्वथा पवित्र है उसमे किसी भी प्रकार का अश हेय नही है। मानवमात्र को वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रिय कर्त्तव्यो का ज्ञान कराकर उसे सुख, शाति और आनन्द का सच्चा मार्ग बताना ही वेदो का पवित्र उद्देश्य है।

आधुनिक युग मे मानव अपने जीवन-मूल्यो के प्रति पर्याप्त सचेष्ट है, भले ही वह दिग्भ्रमित होकर जीवन-मूल्यो के यथार्थ का दर्शन न कर सके किन्तु उसकी गति उन मूल्यो की प्राप्ति मे निश्चय ही हो रही है। सृष्टि के आदि से अद्यावधिपर्यन्त मानव ने समय-समय पर जो चिन्तन किया, ज्ञान-विज्ञान की दिशा मे जो अभ्युदय प्राप्त किया वही सब कुछ बीज रूप मे वेदो मे निहित होता हुआ प्रकाशमान हो रहा है। महाराज मनु ने मानवसृष्टि के समस्त नाम एव कर्मादि का प्रवर्तक वेद को ही स्वीकार किया है—

> सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक् ।
> वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक्सस्थाश्च निर्ममे ॥ मनु १।२१

अधुनातन जगत मे मानव ने अभ्युत्थान को लक्ष्य मानकर जिन जीवन-मूल्यो को मान्यता दी है वे सभी जीवन-मूल्य प्राचीन है। क्योकि मानव जैसे ही

धरातल पर अवतीर्ण हुआ उसके साथ-साथ जीवन-मूल्यो का दर्शन एव ज्ञान उसको परमात्मकृपा से वेद के माध्यम से प्राप्त हो गया। हम अपनी स्थूल दृष्टि से उन जीवन-मूल्यों के प्रति आदर या अनादर का दृष्टिकोण रखते हुए स्वार्थमयी विडम्बनात्मक अपेक्षा के फलस्वरूप उनमे हानोपादान प्रवृत्ति को जन्म देते हुए प्राचीन और नवीन सज्ञा से बोधित करते रहते हैं। वास्तव मे जीवन-मूल्य शाश्वत होते हैं। आज से अरबो वर्ष पूर्व ऋषियो ने जिन जीवन-मूल्यो का मानव-कल्याण के लिए, अदोष दृष्टि से साक्षात्कार किया वे ही पुरुषार्थचतुष्टय के रूप मे गणनीय धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष आज भी मानव समाज द्वारा ग्राह्य बने हुए हैं। आधुनिक चिन्तको द्वारा परिगणनीय बहुसंख्यक मानवजीवन के मूल्य इसी पुरुषार्थचतुष्टय के काण्ड एव प्रकाण्ड रूप है। मानव जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है, यह जीवनयात्रा मोक्ष प्राप्ति तक ही प्रकृति से सन्निधि किए हुए है, किन्तु अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए साधन अपेक्षित है, उन्ही साधनो का नाम धर्म, अर्थ और काम है।

यद्यपि आज यह धारणा मानव मस्तिष्क मे व्याप्त हो रही है कि धर्म के प्रति आज का मानव आस्थावान नही है, क्योकि धर्म से शांति नही अपितु धार्मिक व्यक्तियो के जीवन सानिध्य से अशाँति, क्षोभ एव घृणा का भाव उत्तरोत्तर परिपुष्ट हो रहा है। इस विषय मे हम कह सकते है कि जहाँ धर्म के वास्तविक स्वरूप का अवबोध किए बिना हमने किसी स्थानविशेष, लिङ्ग-विशेष या पुरुषविशेष के साथ धर्म को जोड दिया है वही पर ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है। क्योकि जो धर्म नही किन्तु धर्म का आभासमात्र है, उसके प्रति कालान्तर मे अनास्था का होना स्वाभाविक ही है, और ऐसे धर्माभास का जीवन-मूल्यो मे कोई स्थान नही होता। जो वास्तविक धर्म है अर्थात् मानव जीवन का विशुद्ध व्यवहार है वह सदा ही स्व पर उभयविध कल्याणभावना से युक्त होता है। महाराज मनु ने धर्म की जिन दश विधाओं का बोध कराया है—

धृति क्षमा दमोऽस्तेय शौचमिन्द्रिय निग्रह,
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशक धर्मलक्षणम् ॥

यहाँ कहीं भी किसी देश, काल तथा स्थान का बन्धन नही है। ये मानव जीवन की सार्वभौम अपेक्षित व्यवहृतियाँ है जिनकी अपेक्षा सृष्टि के आदिमानव को भी थी, आज के मानव को भी है तथा भविष्य मे आगमिष्यमाण मानव को भी सदा रहेगी। उक्त धर्म के दश लक्षणों का ज्ञापन वेद के माध्यम से होता है क्योकि वेद ही ज्ञान है, ज्ञान प्रकाशस्वरूप है तथा प्रकाश ही सत्य होता है। अत "असतो मा सदगमय" कह कर निरन्तर असत्य से सत्य की ओर अग्रसर होने की कामना की गयी है।

ऋषिवर दयानन्द जी महाराज ने आर्य समाज के नियमों की सरचना करते हुए प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ तथा पञ्चम नियम मे क्रमश सत्य शब्द के प्रयोग द्वारा मानव जीवन मे सत्य की प्रतिष्ठा को आलोकित करते हुए मानव जीवन का सर्वोपरि मूल्याङ्कन किया है।

अधुनातन जगत का मानव निरन्तर अशात होकर इतस्तत भटक रहा है। लगता है कि उसका कुछ विलुप्त हो गया है जिसे प्राप्त करने के लिये वह व्याकुल है। यह व्याकुलता ही इस तथ्य की परिचायिका है कि उसके जीवन से वह सारभूत तत्त्व अभी नही जुड पाया है जिसके जुडते ही छटपटाहट समाप्त हो जाती है। वह तत्त्व सत्य ही है। सत्य की निरपेक्षा मे मानव को शाति कहाँ हो सकती है ? अद्यावधि जो व्यक्ति यह कहते हैं कि सत्य आज जीवन-मूल्यो मे गणनीय नही है, या उसका अवमूल्यन हो गया है, वे सर्वथा भ्रांत धारणा से ग्रस्त हैं। सत्य त्रिकालाबाधित है, उसका कभी भी बाध नही होता। यह हो सकता है कि सत्य के अन्वेषण मे दिग्भ्रमित होकर मानव भटक गया हो और यह सत्य की दूरी ही उसको उद्वेलित कर रही हो, अन्यथा तो सत्य को ही जीवन तथा जीवन को ही सत्य कहा गया है।

परमात्मा की सृष्टि मे सत्य की ओर प्रेरित करने वाले तथा असत्य की ओर प्रेरित करने वाले दोनो ही प्रकार के विचार मानवमन मे उद्बुद्ध होते रहते हैं। ज्ञानी मनुष्य असत्य की ओर उन्मुख न होकर उसका परित्याग करता हुआ सत्य का ग्रहण करता है।

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीय तदित सोमोऽवति हन्त्यासत् ॥
अथर्व ।८।४।१२

परमात्मा ने वेद मे उपदेश दिया है कि सत्य मे मानव को श्रद्धा तथा असत्य मे अश्रद्धा करनी चाहिए। सत्य और असत्य इन दोनों के लक्षण पृथक्-पृथक् हैं। सत्य ऋजु (सरल) और सृष्टि नियम के अनुकूल होता है, सत्याचरण करने से आत्मा में उत्साह उत्पन्न होता है। असत्य कुटिल होता है और वस्तु-स्थिति के प्रतिकूल होता है। असत्याचरण करते समय चित्त मे लज्जा, सकोच, और भय उत्पन्न होते है। लज्जा, भय, सकोच मानों हमें असत्याचरण से रोकते हैं। लज्जा आदि भाव ने ही असत्य को अश्रद्धेय सिद्ध कर दिया है। इसके विपरीत सत्याचरण से होने वाले उत्साह ने सत्य को श्रद्धा की प्रतिष्ठा प्रदान की है—

सुग पन्था अनृक्षर आदित्यास ऋत यते ।
नात्रावखादोऽस्ति व ॥ ऋग्वेद ।१।४१।४

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः ॥ यजु० १६।७७

समाज को नेतृत्व प्रदान करने वाला नेता जब ऋजु मार्ग का पथिक होकर समाज कल्याण की भावना से, मानवोत्थान की योजना बनाता हुआ अग्रगामी होता है तब प्रजा द्वारा वह श्रद्धा का पात्र बनता है। परन्तु इसके विपरीत स्वार्थलोलुप, असत्य मार्ग का पथिक, अविवेकी, दुराचरी नेता प्रजाजन के हृदय में न सम्मान प्राप्त करता है तथा न ही कोई उसका अनुवर्तन करता है। इसी भाव को वेद ने निम्न मन्त्र मे प्रदर्शित किया है—

य यज्ञ नयथा नर आदित्या ऋजुना पथा।
प्र व सधीतये नशत् ॥ ऋग् ।१।४१।५

आज प्राय. एक धारणा मानवहृदय मे उभरने लगी है कि जो सत्य का अवलम्बन लेकर प्रगति करना चाहता है, उसका मार्ग अवरुद्ध-सा प्रतीत होता है। किन्तु वास्तव मे ऐसा नही है, यदि सत्य का मूल्य आज जीवन मे नही है तो प्रत्येक व्यक्ति को मिथ्या व्यक्तित्व, मिथ्याचार तथा मिथ्या वातावरण के प्रति कृतरुचि होना चाहिए, जबकि ऐसा दृष्टिगोचर नही होता। प्राय. देखा जाता है कि स्वयं असत्याचरण करने वाला व्यक्ति सत्याचारी की अन्वेषणा मे रहता है। घी मे डालडा मिलाने वाला वणिक् स्वय यदि कही घृत लेने जावे तो भिन्न वणिक् से शुद्ध घृत की कामना करता है। इससे यह सिद्ध है कि सत्य का मूल्य जीवन के साथ जुडा हुआ है।

जीवन में अर्थ का मूल्य—

अर्थ का मानव जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। मानव की जीवन-यात्रा अर्थ के सुदृढ रथ पर आरूढ होकर ही सुखपूर्वक हो सकती है। जिस क्षण से जीव ने यह शरीर धारण किया उस क्षण से लेकर मृत्युपर्यन्त अर्थ की उपेक्षा नही की जा सकती। वेदो मे धन के लिए अनेक स्थानो पर रयि शब्द का प्रयोग किया गया है—"यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नोऽस्तु वय स्याम पतयो रयीणाम्" अर्थात्, हे परमात्म देव हम जिस कामना वाले होकर आपका आश्रय लेवे वह पूर्ण होवे तथा हम धन-ऐश्वर्यों के स्वामी बने। इसी प्रकार—

"अग्ने नय सुपथा रायेऽस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्"

हे प्रभो, हमे धनप्राप्ति के लिए सुपथ से चलने की प्रेरणा दो, अर्थात् हम धनार्जन कुटिल उपायो से नही अपितु सरल एव परजन सुखोत्पादक उपायो

से करे। आज जब हम किसी धनी व्यक्ति का सम्मान होते हुए देखते हैं तो हमें लगता है कि धन ही मानवसृष्टि मे सर्वस्व है, अत. धनार्जन मे प्रवृत्त होना चाहिए। हम वैदिक विचारधारा के वास्तविक स्वरूप को न जान कर केवल धनार्जन को लक्ष्य मानकर अनुचित उपायों से भी धनार्जन करना चाहते हैं। वे उपाय भले ही छल, कपट, हिंसा आदि के हो। अधुनातन जगत मे आर्थिक दृष्टिकोण वैदिक आर्थिक दृष्टिकोण से भिन्न है। वेद धन को जीवनयात्रा का साधन मानता है, वहाँ धन जीवन के लिए है। किन्तु वर्तमान काल मे तो व्यक्ति का जीवन लगता है कि धन के लिए ही हो गया है। वेद में मानव को धनार्जन करके लोकोपकार करने की प्रेरणा दी गयी—

"ईशावास्यमिदं सर्वम्" कहकर धन की कितनी सत्ता है इस पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। वेदो मे धनपति को ब्राह्मण द्वारा प्रेरणा दी जाती है कि—

इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि
स न एतु पुर एता नो अस्तु।
नुदन्नराति परिपन्थिनं मृगं
स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम्॥

अथर्व ।३।१५।१

अर्थात्, मैं ऐश्वर्यशाली वणिक् को प्रेरित करता हूँ कि हमारे समीप आकर हमारा नेतृत्व करे तथा कृपणता आदि अराति भाव को हृदय से दूर करता हुआ समाज के लिये धन का दाता बने।

वेद मे केवल देश मे ही नही अपितु देश-देशान्तरों मे जहाँ भी मानव की पहुँच हो सकती है, वही पर सुपथ बनाकर धनार्जन करने का निर्देश है :

ये पन्थानो बहवो देवयाना,
अन्तरा द्यावा पृथिवी संचरन्ति।
ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन,
यथा क्रीत्वा धनमाहराणि॥

अथर्व।३।१५।२

मानव जिस पूँजी को मूल में लगाकर व्यापार करे उसकी वह पूँजी निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होती रहे, कभी भी उसमें न्यूनता न आवे तथा व्यापारी

उत्तरोत्तर उन्नति की ओर बढ़ता हुआ विकास करता रहे। इस भाव को इस प्रकार वेद में व्यक्त किया गया है—

> येनधनेन प्रपणं चणर्म—
> धनेन देवा धनमिच्छमाना।
> तन्मे भूयोभवतु मा कनीयोऽग्ने—
> सातघ्नो देवान् हविषा निषेध॥
> अथर्व०।३।१५।५

आज मनुष्य अनेक स्रोतो से धनार्जन करना चाहता है। वेद मे भी इसका विरोध नही है किन्तु इतना निर्देश अवश्य है कि धनार्जन तथा धनविकिरण क्रमिकता से होता रहे तथा धनार्जन अग्रिम जीवन की गुत्थी को खोलने मे सहायक हो सके, यथा—

> शतहस्त समाहर सहस्रहस्तसकिर।
> कृतस्य कार्यस्य चेह स्फाति समावह॥ अथर्व०।३।२४।५

उद्योग का महत्त्व—

उद्योग मानव जीवन के साथ जुडा हुआ है। उद्योग के बिना मनुष्य अकर्मण्य होकर समाज मे निन्दित होता है। आधुनिक युग तो उद्योग युग के नाम से वाच्य है। ऐसे समय मे जबकि चतुर्दिक् प्रतिस्पर्धा का साम्राज्य हो तो कर्महीन व्यक्ति जीवन मे सफलता कैसे प्राप्त कर सकता है। अत आज के युग मे तो "चरैवेति-चरैवेति" का मन्त्र एकमात्र श्रोतव्य है, मन्तव्य है। "चरन् वै मधु विन्दति" के अनुसार जिसने गति की है उसे ही प्रगति मिली है। वेदो मे मानव को कही भी कर्म से विमुख होने का सकेत नही है, वहाँ तो "कुवन्नेवेह कर्माणि जिजीविशेत् शतं समा" यजु०।४०।२ के अनुसार मानव को स्पष्ट निर्देश दिया गया है कि लोक मे रहते हुए निश्चित ही सर्वथा अपरिहार्य रूप से कर्म करते हुए रहना होगा। आज कर्मक्षेत्र मे प्रत्येक को स्वच्छन्द रूप से अपना कौशल प्रदर्शित करने का अधिकार प्राप्त है। वेद मे परमात्मा ने एक-एक जीव को उत्थान करने और उद्यम करने का निर्बन्ध अवसर प्रदान किया है, यथा—

> अनुहूत पुनरेहि विद्वान् उदयन पथ।
> आरोहणमाक्रमण जीवतो जीवतोऽयनम्॥ अथर्व०।५।३०।७

उद्यम करते हुए मनुष्य को कभी निराशा के स्वप्न मे क्षण नही व्यतीत करने चाहिएँ। उसे विश्वास करना चाहिए कि यदि उसके दक्षिण हस्त मे कर्म है तो सफलता उसके वाम हस्त मे विराजमान है। इसी आशय का एक मन्त्र प्रस्तुत है—

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः। अथर्व० ७।५२।८

मनुष्य को यह धारणा निर्भ्रान्ति रूप मे अपने हृदय मे बैठानी होगी कि उसके द्वारा विधेय उद्यम कोई अन्य नही कर सकेगा। मनुष्य को स्वयं ही अपने कर्मवितान को इतना विस्तृत करना होगा जिसकी छाया मे बैठकर, बहुविध विघ्नातप काल में शांति का श्वास ले सके। यथा— स्वय वाजिस्तन्व कल्पयस्व स्वय यजस्व स्वय जुषस्व, महिमा तेऽन्येन न सनशे। यजु० २३।१५।

मनुष्य कभी-कभी यत्किञ्चित् उपलब्धि लेकर सतुष्ट होकर कर्मविमुख होने लगता है। ऐसे व्यक्ति के लिए निरन्तर आगे बढने की प्रेरणा वेद मे दी गयी है। मनुष्य को सतोष की निधि उसे अकर्मण्य बनाने के लिए नही, अपितु असफल होकर भी निरन्तर कर्मक्षेत्र मे अपना कर्मवीरत्व दिखाने के लिए है—

> उत्क्रामात पुरुष माऽव पत्था, मृत्यो पड्वीशमवमुञ्च मान।
> मा च्छित्था अस्माल्लोकादग्ने सूर्यस्य सन्दृश॥ अथर्व० ।८।१।४

परमात्मा ने मानव को इस लोक मे भेजा ही उन्नति करने के लिए है। अवनति करना मनुष्य का लक्ष्य नही है, लक्ष्य है ऊँचा उठना। मनुष्य का सतत् प्रयत्न होना चाहिए कि अवनति से बचकर सदा उन्नत होने का यत्न करे। आलस्य को त्यागकर सर्वथा पुरुषार्थी जीवन बनाए। देहरथ पर सवार होकर, योग्य बनकर, ज्ञानोपदेश करता हुआ स्वय को भी सुखमय तथा आनन्दमय बनाता हुआ, निरन्तर उन्नति करता रहे। मनुष्य के समीप परमात्मप्रदत्त दक्षता ही ऐसा बल है जिसके आधार पर महान से महान सकट को पार करता हुआ व्यक्ति अपने चरम लक्ष्य की ओर निरन्तर उन्मुख रहता है। यथा—

> उद्यान ते पुरुष नावयान,
> जीवातु ते दक्षताति कृणोमि।
> आ हिरोहेमममृत सुख रथमथ,
> जिर्विविदथमा वदासि॥ अथर्व० ८।१।६

जीवन में सौमनस्य—

आज मानव समाज में सौमनस्य की अत्यन्त आवश्यकता है। प्रत्येक मानव का जीवन पारस्परिक सौमनस्य के अभाव मे, भौतिकवाद की उन्नत कोटि पर आरूढ होता हुआ भी निर्जन वन मे भटके राही के समान दीखता है। जब तक मानव एक-दूसरे के प्रति सौमनस्य की भावना का द्वार अनावृत्त नही करेगा तब तक मानवता का जीवन मे प्रवेश सम्भव नही है। आज के युग मे,

जबकि राग, द्वेष, ईर्ष्या, हिसा का हो चतुर्दिक् नग्न ताण्डव हो रहा है, ऐसे विकराल काल मे वेद के ये मन्त्र ही मानव को जीवन का नवप्रकाश द सकते हैं —

सहृदय सामनस्यमविद्वेष कृणोमि व. ।
अन्योऽन्यमभिहर्यत जात वत्समिवाघ्न्या ॥ अ०।३।३०।१

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथ ।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे सज्ञान पुरुषेभ्य ॥ अ०।३।३०।४

सध्रीचीनान्व समनसस्कृणोम्येक श्नुष्टीन्त्सवनेन सर्वान् ।
देवा इवामृत रक्षमाणा. साय प्रात सौमनो वो अस्तु ॥ अथर्व०३।३०।७

अर्थात्, हम सभी परस्पर समान हृदय वाले बने, द्वेष से सदा रहित रहे, तथा एक-दूसरे से इस प्रकार प्रेम करे जैसे कि गाय अपने नवजात वत्स से प्यार करती है। हम सभी मिलकर यत्न करने वाले बने। बुद्धिमान व्यक्तियो की तरह अपने उत्तम समाज और राष्ट्र के हितो की रक्षा करे। प्रात -साय हमारे मन मे शुभ भाव रहे।

समता एवं समष्टि की भावना—

जब मानव व्यक्तिवाद से ऊपर उठकर समष्टि की चिन्तना मे अग्रसर होता है तो सहजतया उसमे समता तथा प्राणिमात्र के लिए मित्रता का भाव उद्बुद्ध होता है। वेद मे इसी समत्वभाव एव मित्रभाव को मानव मे उजागर करने के लिए अत्युत्तम मन्त्र दृष्टिगत होते है, जैसे—

मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् ।
मित्रस्याह चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ॥ य०।३६।२८
याश्च पश्यामि याश्च न तेषु मा सुमतिं कृधि ॥ अ० ।१७।१।७

अर्थात्, मैं सभी प्राणियो को मित्रभाव से देखूं तथा मुझे सभी मित्रभाव से देखे। हम सभी मानव समान हैं। हममे न कोई छोटा है तथा न ही कोई बडा। परमात्मा ने हम सबको समान रूप मे उन्नति के लिए मानव जीवन प्रदान किया है, जब तक हम सभी मे समभाव नही रखेंगे तब तक जीवन मे सरसता का आदान सम्भव नही है। वेद मे इसी भाव को इस प्रकार प्रकट किया गया है—

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सभ्रातरो वावृधु सौभगाय ॥ ऋ० ।५।६०।५
समानो मन्त्र समिति समानी समान मन सह चित्तमेषाम् ।
समान मन्त्रमभिमन्त्रये व समानेन वो हविषा जुहोमि ॥ ऋ०।१०।१६।१३

पारस्परिक सहयोग—

मानव जीवन एक-दूसरे के सहयोग पर निर्भर है। चाहे व्यक्ति हो या राष्ट्र, सभी एक-दूसरे की अपेक्षा रखते है। सहयोग को यदि मानव जीवन से निकाल दे तो शायद कोई भी व्यक्ति उन्नति न कर सके। क्योकि हर व्यक्ति के उत्थान मे किसी न किसी अन्य का सहयोग अवश्य रहा है। वेद मे ससार को एक पथरीली नदी के रूप मे प्रस्तुत किया गया है जिसका प्रवाह सवेग है, ऐसी ससार-नदी को एक-दूसरे की सहायता लेते हुए, सखा भाव से पार करने का उपदेश दिया गया है। मन्त्र इस प्रकार है—

अश्मन्वती रीयते सरभध्वमुत्तिष्ठत प्रतरता सखाय ।
अत्रा जहीमोऽशिवायेऽसञ्छिवान्वयमुत्तरेमाभिवाजान् ॥ यजु० । ३५।१०

मनुष्य, मनुष्य के लिए है, उसकी उपलब्धि केवल उसके ही लिए नही अपितु समग्र मानव जाति के लिए है। इसीलिए वेद मत्र मे कहा गया है कि एक मनुष्य जब उन्नत हो जाए तब वह दूसरो को उन्नति के लिए प्रेरित करे—

केतु कृण्वन्नकेतवे पेशोमर्या अपेशसे ।
समुषद्भिरजायथ ॥ ऋ० । १।६।३

मानव-कल्याण की भावना—ऋग्वेद मे कहा गया है कि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य की हर सम्भव प्रयास से रक्षा करे

पुमान् पुमास परिपातु विश्वत ॥ ऋ०। ६।७५।१४

वर्तमान युग मे मानव कल्याण के विषय मे राष्ट्रिय स्तर एव विश्व-मचीय स्तर पर अनेक प्रकार से कार्य हो रहा है। तथापि मानव जीवन से वे मूल्य खिसकते-से दीखते है जिनका कि जीवन से अटूट सम्बन्ध होना चाहिए। इसका कारण है कि मनुष्य के निर्माण मे कही मूल मे कमी है। आज मानव सब कुछ बनना चाहता है।

ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र मे वह ऊँची-से-ऊँची उडान भरकर व्योम-व्यापी अभ्युदय को प्राप्त करता है, किन्तु वह एक उन्नत कोटि का मानव भी बने इसके लिए किचितमात्र भी प्रयास नही किया जाता। वैज्ञानिक अभ्युदय नि सन्देह मानव कल्याण के लिए है किन्तु तब तक, जब तक कि मानव वैज्ञानिक होने के साथ-साथ मानव-धर्म की आराधना करता हुआ हर क्षण एक अच्छा मानव बनने का

भी प्रयत्न करता हो। वेद "मनुर्भव" कहकर मानव बनने का कितना सुन्दर विचार प्रस्तुत करता है—

तन्तुं तन्वन् रजसो भानुमन्विहि,
ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान्।
अनुल्बलवणं वयत जोगुवामपो
मनुर्भव जनमा दैव्य जनम्॥
ऋ०।१०।५३।६

इस प्रकार वेद में जीवन-मूल्यों के प्रति अनेक प्रकार से विचार प्राप्त होते है। आधुनिक जगत के वे ही जीवन मूल्य हैं जो वैदिक ऋषियो ने अपनी सूक्ष्मेक्षिका से परिदृष्ट किए थे। आवश्यकता है उन जीवन मूल्यो के यथार्थ स्वरूप को समझने की तथा जीवन मे विधिवत् रूप से संजोने की।

प्राचीन भारत में तकनीकी शिक्षा

डा० अशोक कुमार सिन्हा,
श्री शैलेन्द्र तायल एवं सुश्री रेनू तायल
फिरोज गांधी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, रायबरेली

प्राचीन भारत उच्चकोटि के विज्ञान और तकनीक के लिये प्रसिद्ध था। प्राचीन भारत की तकनीकी शिक्षा को जानने के लिये उस समय की सामान्य शिक्षा को भी जानना आवश्यक है।

४००० वर्ष पूर्व सिन्धु घाटी के मोहनजोदडो स्थान से प्राप्त मिट्टी की मोहरो पर उस समय की लिपि में कुछ लिखा मिलता है लेकिन वह लिपि आज तक पढी नही जा सकी है। हडप्पा सभ्यता के खण्डहरो से प्रतीत होता है कि उस समय के नगर, भवन तथा सडके निर्धारित योजना के अनुसार बनाये जाते थे। भवन निर्माण पक्की ईटो से होता था, आदि। इससे ज्ञात होता है कि हडप्पा सभ्यता मे तकनीकी का उच्च स्तर था।

ऋग्वेद से पूर्व भारतीय शिक्षा-सभ्यता का कोई क्रमिक इतिहास नही मिलता। यद्यपि ऋग्वेद से पूर्व भारत मे द्रविण सभ्यता का विकास हो चुका था किन्तु इसके अन्तर्गत शिक्षा प्रणाली का कोई प्रामाणिक उल्लेख नही है। इसलिये शिक्षा का आरम्भ ऋग्वैदिक काल से ही माना जाता है।

व्यवस्थित साधन के अभाव मे ऋग्वैदिककालीन शिक्षा मौखिक रूप से दी जाती थी। धर्म का साक्षात्कार करने वाले ऋषियों ने उपदेश के द्वारा मन्त्रो को प्रदान किया।

साक्षात्कृत-धर्माण ऋषयो बभूवः।
तेडवरेभ्यो साक्षात्कृत धर्मभ्यः उपदेशेन मन्त्रान सम्प्रादु ॥ (निरुक्त।१।२०)

यह ज्ञान रक्षित करके आगे की सन्तति को हस्तान्तरित किया जाता था। वदिककालीन परिवार-स्कूलों का इसी प्रकार सूत्रपात हुआ। ऋग्वैदिक काल मे शिक्षा सुसंगठित तथा नियमित विद्यालयों मे नही दी जाती थी। विद्यार्थी

गुरुकुलो अथवा आश्रमो मे गुरुचरणों मे बैठकर, वेदमन्त्रों को उपदेश के रूप में सुनकर कठस्थ करता था और अपनी स्मृति मे स्थायी करता था। विद्यार्थी को ब्रह्मचारी कहा जाता था। इस प्रकार गुरु तथा शिष्य की परम्परा से शिक्षा पीढी-दर-पीढी श्रुतजीवी होकर आगे बढी। ऋग्वैदिक काल मे तकनीकी शिक्षा का उल्लेख नही मिलता है किन्तु इसमे तत्कालीन ज्ञान और विचारधारा बीज-रूप मे निहित थे।

उत्तरवैदिक काल में शिक्षा के क्षेत्र मे विकास हुआ। ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद आदि ग्रन्थो का ज्ञान एक पीढी से दूसरी पीढी मे हस्तान्तरित होने लगा। इस काल मे लेखनकला का आरम्भ हो गया था।

क्रमश बृहत् ज्ञानराशि को सक्षिप्त रूप मे समझने के लिये सूत्र-ग्रन्थो की रचना हुई। सूत्रो द्वारा विभिन्न विषयो को शिक्षा दी जाती थी।

उत्तरवैदिककाल मे शिक्षा वर्णानुसार दी जाने लगी। ब्राह्मण को मुख्य रूप से वेदो के पठन-पाठन की शिक्षा दी जाती थी। क्षत्रियो के लिए 'धनुर्वेद' का अध्ययन अनिवार्य था। देश की रक्षा के लिये उन्हे सैनिक शिक्षा मे प्रवीण कराया जाता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे राजकुमारो की शिक्षा के लिये चार विद्याओ का उल्लेख मिलता है —

१—अन्विक्षकी अर्थात् साख्ययोग तथा लोकायत का ज्ञान।

२—वेदो का अध्ययन।

३—वार्ता—इसमे कृषि, पशुपालन तथा व्यापार का ज्ञान कराया जाता था।

४—दण्डनीति—दण्डनीति मे शासन, कानून तथा राजनीति का ज्ञान कराया जाता था।

विशेष विद्याओ के लिये विशेष वर्ण-व्यवस्था थी। वैश्यो को कृषि, पशुपालन तथा व्यापार की शिक्षा दी जाती थी। इसके लिये गणित, साधारण भूगोल, कृषि, विज्ञान, अच्छे-बुरे क्षेत्रो का ज्ञान तथा खेत मे प्रयुक्त खाद आदि का ज्ञान दिया जाता था। विद्यार्थी यह शिक्षा प्रधानत. अपने पिता से प्राप्त करता था।

शूद्रो के लिये उच्च शिक्षा की व्यवस्था नही थी। देश के आर्थिक विकास के लिये उन्हे विशेष रूप से हस्तकलाओ की शिक्षा दी जाती थी। कताई, बुनाई, वस्त्रो की छपाई का कार्य, अस्त्र-शस्त्र बनाना, औजार बनाना, रथ बनाना आदि

की शिक्षा दी जाती थी। ये विद्याएँ घरेलू रूप से वंशपरम्परा द्वारा ही सीखी जाती थी। इसके अतिरिक्त इन विद्याओ को सिखाने के लिये नारद जैसे शिक्षको का भी उल्लेख मिलता है।

६००-५०० ईसा पूर्व में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ। बौद्ध काल मे शिक्षा के क्षेत्र मे पर्याप्त विकास हुआ। बौद्धकालीन शिक्षा "निवृत्ति प्रधान" थी। मठ, मन्दिर, गुरुकुल तथा बुद्धविहार शिक्षण-संस्थाओ के रूप मे थे। विद्यार्थी "बुद्धं शरण गच्छामि, धम्मं शरण गच्छामि तथा संघ शरण गच्छामि का उच्चारण करके शिक्षण संस्थाओ मे प्रवेश करता था। पाठ्यक्रम दो स्तरो मे विभक्त किया गया था। (१) उच्च शिक्षा तथा (२) प्रारम्भिक शिक्षा। उच्च शिक्षा के अन्तर्गत वेद, आयुर्वेद, दर्शन, धर्म, इतिहास, पुराण, काव्य, शब्द-विद्या, व्याकरण, ज्योतिष, सामूहिक विद्या, शकुन विद्या, योग नक्षत्र तथा तन्त्र आदि विद्याओ की शिक्षा दी जाती थी। प्रारम्भिक शिक्षा के अन्तर्गत लिखना, पढना, साधारण गणित तथा धार्मिक आचरण आदि की शिक्षा दी जाती थी।

इस काल मे प्रयोगात्मक रूप से प्रशिक्षण आरम्भ हो गया था। लेखन-कला का भी पर्याप्त प्रचार हुआ। आचार्य देशाटन द्वारा शिक्षा का प्रसार करते थे। ये आचार्य "चरक" कहलाते थे।

युज्युलांह्यमानि मद्रदेश मे "चरक" बनकर विचरता रहा।

अथ हैनं युज्युलाह्यमानि प्रपच्छ याज्ञवल्क्योति।
होवाय मद्रेषु चरका पर्यव्रजाम॥ (बृहदारण्यक उपनिषद ३३१)
अध्ययन, अध्यापन तथा तद्विद्यसम्भाषा ज्ञानप्राप्ति के उपाय थे।

तत्रोपायानुभ्याख्यास्याम अध्ययनम् अध्यापनम् तविद्यसभाषा चेत्युपाया।

शनैः-शनैः बौद्धकाल मे मठो तथा गुरुकुलों ने विश्वविद्यालयो का रूप धारण कर लिया था। तक्षशिला तथा नालन्दा प्रसिद्ध शिक्षा के केन्द्र थे। तक्षशिला "चिकित्सा" के प्रशिक्षण के लिये विशेष रूप से प्रसिद्ध था। यहाँ के आचार्य "आत्रेय" आयुर्वेद के ज्ञान के लिये प्रसिद्ध थे। इसके अतिरिक्त यहाँ वेद, अष्ठादश विद्याये (अठारह प्रकार के शिल्प), ज्योतिष, कृषि आदि अनेक विषयो का विशेष रूप से अध्ययन कराया जाता था। ऐसा उल्लेख मिलता है कि बनारस विद्यालय के विद्यार्थी उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये तक्षशिला जाते थे। इस विश्वविद्यालय मे महान वैयाकरण पाणिनि, सुप्रसिद्ध वैद्य जीवक, अर्थशास्त्र के प्रणेता कौटिल्य, मौर्य साम्राज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्त आदि विभूतियो ने शिक्षा प्राप्त की थी।

नालन्दा विश्वविद्यालय "बौद्ध संस्कृति" का केन्द्र था। धर्मपाल, चन्द्र-पाल, गुणमति, शीलभद्र आदि यहाँ के सुप्रसिद्ध आचार्य थे। सर्वोपरि आचार्य "कुलपति" कहलाता था।

मौर्यकाल में शिक्षा के क्षेत्र में प्रगति हुई। देशाटन द्वारा शिक्षा का प्रसार तथा प्रचार किया गया। "कनिष्क" के काल मे "शिल्पकला" की शिक्षा को प्रोत्साहन मिला।

गुप्तकाल में विज्ञान, साहित्य तथा व्यापार, कलाकौशल आदि सभी क्षेत्रो मे पर्याप्त प्रगति हुई। गुप्तकाल मे तकनीकी शिक्षा को विशेष रूप से प्रोत्साहन मिला। प्रत्येक क्षेत्र मे प्रगति करने के कारण गुप्तकाल को "स्वर्णयुग" कहा जाता था।

प्राचीन भारत मे आयुर्वेद (चिकित्साशास्त्र) का पर्याप्त विकास हुआ। "अथर्ववेद" चिकित्साशास्त्र का भारत का सर्वप्रथम ग्रन्थ है। इसमे बहुत-सी जड़ी-बूटियो का विभिन्न प्रकार के रोग निवारण के लिये उल्लेख है। विषकोढ, सर्पदंश, ज्वर, पाण्डु, सन्निपात, रक्तविकार आदि भयकर रोगो की चिकित्सा के लिये जड़ी-बूटियो के प्रयोग किये जाने का उल्लेख है। अथर्ववेद को "तान्त्रिक ग्रन्थ" भी कहा गया है क्योकि इसमे उन मन्त्रो का सन्निवेश है जिनके द्वारा पुरोहित शत्रु, हिंसक पशु, भयकर रोग तथा प्राकृतिक उत्पातो के विरुद्ध उनके विनाश के लिये आह्वान करते थे।

आयुर्वेद अथर्ववेद का उपाग वेद है। आयुर्वेद को "अष्टाग वेद" भी कहा गया है।

तस्यायुर्वेदस्यागन्यष्टौ तद्यथा, कायचिकित्सा, शालात्रय, शल्यापहर्तृक
विषगदगैरोधिक प्रशमन, भूतविद्या कौमारमृत्यक रसायन वाजीकरणमिति।

अर्थात् आयुर्वेद मे कायचिकित्सा, शल्यचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारमृत्य, अगद, रसायन तथा वाजीकरण विद्या का उल्लेख है।

उत्तरवैदिक काल मे आयुर्वेदीय शिक्षा का विकास हुआ। शिक्षक के द्वारा आयुर्वेदीय ग्रन्थो के पदो तथा श्लोकों का धीरे-धीरे पाठ कराया जाता था।

पद पाद श्लोक वा ने च पदपाद श्लाका भूय
क्रमेणनुसवेया ....स्वेरे पठेत। (सुश्रुत संहिता ३।५४)

आयुर्वेद के विभिन्न विभागों का पृथक्-पृथक् अध्ययन कराया जाता था। एक विभाग के विद्यार्थी परामर्श तथा व्यावहारिक ज्ञान से शिक्षा प्राप्त करते थे। एक चिकित्सक के लिये "बहुश्रोता" होना आवश्यक था, अर्थात् जब तक उसे अनेक विद्वानो से ज्ञान प्राप्त नही हो जाता था तब तक उसे सफलता नही मिलती थी।

"एक शास्त्रमधीमाना न विद्याच्छास्त्रनिश्चमम् ।
तस्मादबहुश्रुत शास्त्र विजानीयात् चिकित्सक ॥
(सुश्रुत सहिता ४, ६-७)

विद्यार्थी को चिकित्सा सम्बन्धी दस कलाओ की शिक्षा दी जाती थी, जैसे पुष्प के रस और दूसरे विषैले द्रव्यों का बनाना, शल्य चिकित्सा, भोजन बनाना, फलो का उपयोग, धातु विज्ञान, शक्कर बनाना, औषधियाँ बनाना, मेटाबालिक (उपापचयी), कम्पाण्डड्स (यौगिकी) का पृथक्कीकरण, धातुओ से सयुक्त मिश्रण बनाना, क्षारीय पदार्थो को तैयार करना।

शास्त्र तथा प्रयोग दोनो का ज्ञान अनिवार्य था। आरम्भ करने वाले विद्यार्थी को सर्वप्रथम औजारो को पकडना और उनका प्रयोग बताया जाता था। इनका प्रयोग विद्यार्थी खीरा, तरबूज तथा खरबूजे पर शिक्षक के निरीक्षण मे करते थे। छेदन कार्य, मृतक पशुओ की शिराओ पर करके दिखाया जाता था। छुरी पकडना अलाबू के फलो पर, चर्मछीलन खाल के तालदार सूखे टुकडो पर, पट्टी बाँधना भूसा भरी मनुष्य की आकृतियो पर तथा जलाने वाले रसायन का प्रयोग मास के कोमल टुकडो पर सिखाया जाता था। घाव मे से छुरी खीचना, घाव साफ करना तथा शरीर के रुग्ण भाग को चाकू द्वारा छेदन अथवा काटने की भी शिक्षा दी जाती थी। मृतक मानव-शरीरो को चीड-फाड करके देखा जाता था। केवल पुस्तक के द्वारा शल्यशास्त्र का ज्ञान पर्याप्त नही था (सुश्रुत सहिता १, ३-६)। बौद्धकाल मे जीवक नामक प्रसिद्ध वैद्य ने तक्षशिला मे चिकित्सा शिक्षा प्राप्त की। तक्षशिला विश्वविद्यालय चिकित्सा के लिये विशेष रूप से प्रसिद्ध था।

उत्तरोत्तर चिकित्सा शिक्षा मे प्रगति होती गयी। व्यक्तिगत रूप से शिक्षा दी जाने लगी। चिकित्सा सम्बन्धी विषय पर विचार करने के लिये सगोष्ठियाँ तथा सम्मेलन होने लगे। आयुर्वेदीय ग्रन्थो मे "चरक-सहिता" तथा "सुश्रुत सहिता" सबसे अधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ थे। प्राचीन भारत मे धन्वन्तरी, भारद्वाज, आत्रेय, जीवक, पतजलि, चरक, सुश्रुत तथा वाणभट्ट आदि प्रसिद्ध चिकित्सा-शास्त्री थे।

इस प्रकार आयुर्वेदीय शिक्षा के द्वारा वनस्पतिविज्ञान, प्राणिविज्ञान, रसायनविज्ञान, जन्तुविज्ञान, शल्यविज्ञान तथा फार्मेसी की शिक्षा दी जाती थी।

प्राचीन भारत मे पशु चिकित्सा सम्बन्धी शिक्षा का भी उल्लेख मिलता है। 'सालिहोत्र' प्रसिद्ध पशु चिकित्सक थे। अश्व रोगों की चिकित्सा मे पाण्डव-बन्धु नकुल तथा सहदेव भी दक्ष माने जाते थे। प्राचीन भारत मे पशु-चिकित्सा के प्रशिक्षण के लिये नियमित विद्यालयो का उल्लेख नही मिलता है। सम्भवत विद्यार्थी परम्परागत ज्ञान को निपुण व्यक्तियो को शिष्यता स्वीकार करके प्राप्त करते रहे होगे।

उत्तरवैदिककाल से सैनिक शिक्षा के प्रशिक्षण के भी सकेत मिलते हैं। 'धनुर्वेद' सैन्य शिक्षा का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। धनुर्वेद मे उल्लेख है कि विद्यार्थी का उपनयन संस्कार किया जाता था। उसे एक अस्त्र देकर वेदमन्त्र का उच्चारण कराया जाता था। सैनिक शिक्षा का प्रशिक्षण विशेष रूप से क्षत्रियो को दिया जाता था।

ततो द्रोण पाण्डुपुत्रां मन्त्राणि विविधानि च।
द्रोण सकीर्णं युध्ये च शिक्षयाम स कौरवान॥ (महाभारत आ०प० ११८)

शूद्रो को सैनिक शिक्षा का प्रशिक्षण नहीं दिया जाता था। महाभारत मे उल्लेख है कि प्रसिद्ध शिक्षक द्रोणाचार्य ने शूद्र बालक एकलव्य को सैनिक शिक्षा का प्रशिक्षण देने के लिये अस्वीकार कर दिया था।

रामायण मे 'दशरथ' के पुत्रों को विद्यार्थी-काल से ही सैनिक शिक्षा प्राप्त करने का उल्लेख है।

पिता दशरथो दृष्टो ब्रह्मा लोकाधियों यथा
ते चापि मनुज व्याघ्रा वैदिकाध्ययने रत.
पितृ सुश्रवणरता धनुर्वेद च निष्ठिता. (रामायण बालकाण्ड अ० १८)

सैनिक शिक्षा न केवल राज्य द्वारा दी जाती थी अपितु व्यक्तिगत रूप से भी दी जाती थी। प्रात: प्रत्येक गाँव में शिक्षण-शिविर होते थे। जहाँ ग्रामवासियो को आत्मरक्षा के लिये शिक्षित किया जाता था। इसके अतिरिक्त सैन्य शिक्षा के प्रशिक्षण के लिये नियमित केन्द्र भी थे। तक्षशिला ऐसा नगर था जहाँ भिन्न-भिन्न भागो से एकत्रित होकर विद्यार्थी सैन्य शिक्षा प्राप्त करते थे।

उन्हे उस समय युद्ध में प्रयुक्त होने वाले धनुष-बाण, तलवार, गदा, भाला तथा ढाल आदि विभिन्न अस्त्र-शस्त्रो के प्रयोगो को सिखलाया जाता था। रथ-युद्ध, गजयुद्ध अश्वयुद्ध आदि के भिन्न-भिन्न तरीको को बतलाया जाता था।

बौद्ध काल में अहिंसा धर्म के अनुयायियो के कारण सैनिक शिक्षा के प्रशिक्षण मे कोई प्रगति नही हुई।

गुप्तकाल मे सैनिक शिक्षा के प्रशिक्षण को पुन प्रोत्साहन मिला। अधिक संख्या मे विद्यार्थी सैनिक शिक्षा का प्रशिक्षण प्राप्त करने लगे।

ऋग्वैदिक काल से ही ज्योतिष सम्बन्धी ज्ञान की शिक्षा के संकेत मिलते हैं। यद्यपि ऋग्वेद मे ज्योतिष सम्बन्धी सकेत अनिश्चित से हैं किन्तु उसमे भी वर्ष के बारह महीने तथा मास के तीस दिनो का वर्णन मिलता है।

वैदिक यज्ञो की विधियाँ सम्पन्न करने के लिये ऋतु, अयन, दिनमान, लग्न आदि के शुभाशुभ के लिये उत्तरवैदिककाल मे ज्योतिष का ज्ञान अनिवार्य समझा जाने लगा। ज्योतिष की अनिवार्यता के कारण इसे षड्वेदागो मे स्वतन्त्र स्थान प्राप्त हुआ।

ज्योतिष का ज्ञान गुरु-शिष्य तथा प्रशिष्यो की परम्परा से दिया गया। विद्यार्थी को सर्वप्रथम दिन, रात, पक्ष, मास तथा वर्ष का ज्ञान कराया जाता एव फिर धीरे-धीरे गृह, नक्षत्र तथा ऋतुओ के विषय मे शिक्षा दी जाती थी।

वेदाग साहित्य मे सर्वप्रथम "लगध कृत" वेदाग ज्योतिष नामक कृति उपलब्ध है। वेदाग ज्योतिष के दो पाठ उपलब्ध है—ऋग्वेद ज्योतिष तथा यजुर्वेद ज्योतिष। उत्तरवैदिककाल मे ज्योतिष की शिक्षा का पर्याप्त विकास हुआ क्योकि सम्पूर्ण वैदिक विधियो को समझने के लिये ज्योतिष का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य था।

बौद्ध काल मे ज्योतिष शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया गया क्योकि "बौद्ध-धर्म फलित ज्योतिष को तथा अशतः गणित ज्योतिष को बहुत हीन दृष्टि से देखता था।" दीर्घ निकाय १, ६८।

जब बौद्ध काल का ह्रास होने लगा, गुप्तकाल मे हिन्दू धर्म का उत्थान हुआ तथा यवनो के ज्योतिष का भी भारतवर्ष मे आगमन हुआ तब भारतीय ज्योतिष के अध्ययन-अध्यापन को प्रोत्साहन मिला जिसके फलस्वरूप विक्रम की छठी शताब्दी मे इस विज्ञान के अनेक विद्वान उत्पन्न हुए।

ज्योतिषविद् आर्यभट्ट सर्वप्रथम आचार्य थे, जिनके आर्यभट्टीय ग्रन्थ के चार भाग हैं—गीतिकापाद, गणितपाद, कालक्रियापाद तथा गोलापाद।

कालक्रिया तथा गोलापाद मे ज्योतिष सम्बन्धी विषयो पर विचार किया गया है। गुप्तकाल मे ज्योतिष की शिक्षा मे पर्याप्त विकास हुआ। इस काल मे अनेक ज्योतिष यन्त्र जैसे शकु (पृथ्वी नापने के लिये), छेदक यन्त्र, उन्नताश मापक तथा जल-घडी (समय नापने के लिये) आदि का उल्लेख मिलता है। गुरु स्थिर बुद्धि वाले शिष्यो को इन यन्त्रों का प्रयोग करना सिखलाते थे। शिष्य प्रयोग करने के तरीको को सीखकर इन यन्त्रो को बनाते भी थे।

उस समय आर्यभट्ट कृत "दशगीतिका", वराहमिहिर कृत "बृहत्सहिता" तथा "पचसिद्धान्तिका" तथा ब्रह्मगुप्त कृत "ब्रह्मसिद्धान्त" ज्योतिष के प्रसिद्ध ग्रन्थ थे।

ऋग्वैदिककाल से ही गणित सम्बन्धी शिक्षा के स्रोत मिलते हैं। उस समय लोगो को छोटी-से-छोटी तथा बडी सख्या गिनने की विधि बतायी जाती थी। जोड, घटाना, गुणा, भाग आदि अकगणित के मौखिक तत्वो का ज्ञान कराया जाता था।

शूल्वसूत्रो द्वारा रेखागणित की शिक्षा दी जाती थी। शूल्वसूत्र भारतीय रेखागणित से सम्बन्धित प्राचीनतम ग्रन्थ है। इन सूत्रो के द्वारा वर्ग, त्रिकोण, वृत्त तथा विभिन्न कोणो को बनाना सिखाया जाता था। यज्ञ की वेदी तथा उनकी ईंटो को नापने की रीति समझायी जाती थी।

चतुर्भुज के बराबर क्षेत्रफल वाला वर्ग बनाने की विधि, दो वर्गों के क्षेत्रफल के बराबर क्षेत्रफल वाला वर्ग बनाने की विधि, आयत से समचतुर्भुज बनाने की विधि तथा वर्ग से वृत्त बनाने की विधि समझायी जाती थी।

ज्यामितीय सिद्धान्त, जैसे एक सरल रेखा को कितने समान भागो मे विभाजित किया जा सकता है, आदि का ज्ञान कराया जाता था। विकर्ण से वर्ग बनाने की विधि का भी ज्ञान कराया जाता था। इस प्रकार उत्तरवैदिककाल से रेखागणित की शिक्षा का पर्याप्त विकास हुआ।

बौद्ध काल मे गणित की शिक्षा मे कोई विशेष प्रगति नही हुई। पुन गुप्तकाल मे गणित की शिक्षा को बल मिला। आर्यभट्ट प्रथम आचार्य हुये जिन्होने अपने ज्योतिष सिद्धान्त ग्रन्थ मे अंकगणित, बीजगणीत तथा रेखागणित

के कठिन प्रश्नों को तीस श्लोको में लिखा। इन श्लोको के द्वारा वर्ग का क्षेत्रफल निकालने की विधि, घनफल, वर्गमूल, त्रिभुज का क्षेत्रफल निकालने की विधि, शकु का घनफल एवं सब प्रकार के क्षेत्रो की लम्बाई और चौडाई जानकर क्षेत्रफल ज्ञात करने की विधि बतायी थी। इस प्रकार गुप्तकाल मे गणित की शिक्षा का पर्याप्त विकास हुआ। वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, श्रीधर तथा पद्मगुप्त प्रसिद्ध प्राचीनतम गणितज्ञ थे।

प्राचीन दर्शन ग्रन्थो का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि दार्शनिक तत्वो की भूमिका मे भौतिकशास्त्र सम्बन्धी तत्त्व भी निहित थे। दर्शन ग्रन्थो के द्वारा विद्यार्थी को एकत्व का सिद्धान्त, त्रिगुणात्मक प्रगति, परमाणुवाद तथा गतिशीलता, प्रकाश तथा उसके विश्लेषण का ज्ञान कराया जाता था। कणाद, कपिल, प्रशस्तवाद तथा गौतम प्राचीनकाल के प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान थे।

ऋग्वैदिककाल से ही हस्तकलाओ के ज्ञान के भी सकेत मिलते हैं। कातना, बुनना, नौका निर्माण, गृह निर्माण, वस्त्र बुनना, चर्मकार्य, स्वर्णकार्य, काष्ठकार्य, रथ निर्माण, सीना, धोना, हल चलाना आदि अनेक शिल्पकलाये ऐसी थी जिनके द्वारा मनुष्य अपना जीवनयापन करता था। ऋग्वैदिककाल मे शिल्पकलाओ के शिक्षण के लिये नियमित तथा सुसगठित विद्यालय नही थे। विद्यार्थी इस उद्यम को करने वाले व्यक्ति के पास जाकर बहुत दिनो तक उसकी शिष्यता स्वीकार करता था, इस प्रकार वह व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त करके कुशलता प्राप्त कर लेता था। क्रमश यह हस्तकलाये जातिगत हो गयी जो पिता से पुत्र को दी जाने लगी।

उत्तरवैदिककाल मे वर्णानुसार शिक्षा की व्यवस्था हुई। इसके अनुसार मुख्य रूप से शूद्र वर्ण को कताई-बुनाई, अस्त्र-शस्त्र बनाना, वस्त्रो की छपाई-रगाई, रथ-निर्माण आदि की शिक्षा दी जाती थी। इसके अतिरिक्त बालक को, अभिभावको की अनुमति से, हस्तकलाओ को स्वय चुनने की भी स्वतन्त्रता थी। कारीगरो के कार्यालय मे, उनके सरक्षण मे, विभिन्न हस्तकलाओ की शिक्षा दी जाती थी। इसके अतिरिक्त सामूहिक रूप से भी श्रेणी सस्थाओ द्वारा कलाये सिखायी जाती थी। भिन्न-भिन्न व्यवसायो की भिन्न श्रेणियाँ थी।

एकेनशिल्पेन पण्येन वा ये जीवन्ति तेषा समूहाश्रेणी। (पाणिनि १३)

स्मृतियो मे कृषक श्रेणी, ग्वाल श्रेणी, चित्रकार श्रेणी आदि का उल्लेख मिलता है। यह कला तथा कारीगरी के विद्यालय थे जहाँ विभिन्न व्यवसायो की शिक्षा दी जाती थी।

बौद्धकाल में औद्योगिक तथा व्यवसायिक शिक्षा के क्षेत्र मे विशेष प्रगति हुई। कताई, बुनाई, सिलाई आदि के प्रशिक्षण की व्यवस्था मठो के भिक्षुओ के लिये भी थी। तक्षशिला मे १८ प्रकार के शिल्प, जैसे आयुर्वेद, शल्य क्रिया, कृषि, रथ-सचालन नागवशीकरण आदि की शिक्षा दी जाती थी।

मौर्यकाल मे हस्तकलाओ की शिक्षा पर विशेष बल दिया गया। कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे उल्लेख है कि इस काल मे समस्त कलाओ और हस्तकलाओ पर केन्द्रीय नियन्त्रण था। विभिन्न व्यवसायो के अध्यक्षो द्वारा विभिन्न व्यवसायो की शिक्षा दी जाती थी तथा धातुओ का ज्ञान कराया जाता था। कर्मशालाओ मे विद्यार्थी को यन्त्र बनाने का भी प्रशिक्षण दिया जाता था। गुप्तकाल मे इन हस्तकलाओं की शिक्षा मे विशेष प्रगति हुई और ये हस्तकलाये अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई।

प्राचीन भारत मे वास्तुनिर्माण, स्थापत्य, शिल्पकारी तथा चित्रकला का भी विकास हुआ। हडप्पा सभ्यता की खुदाई से प्राप्त भवन, बडे-बडे स्नानागार, कमरे आदि के भग्नावशेष से तत्कालीन वास्तुनिर्माण कला के विकास का पता चलता है। इन कलाओ की शिक्षा भी परम्परागत, वर्णानुसार कार्यालय, कारखानो, श्रेणी सस्थाओ, नियमित केन्द्रो (तक्षशिला) तथा व्यवसाय-अध्यक्षो द्वारा दी जाती थी।

बौद्धकाल से उत्तरोत्तर वास्तुनिर्माण कला की शिक्षा मे प्रगति होती गयी। नालन्दा, विक्रमशिला के विश्वविद्यालय, स्तूप, बौद्ध भिक्षुओ के भवन, बुद्ध विहार, चैत्य, अशोक के स्तम्भ, मेहरौली का लौह स्तम्भ, भवन निर्माण कला तथा गुप्तकाल के मन्दिर (ललितपुर जिले मे देवगढ का दशावतार मन्दिर आदि) वास्तुनिर्माण कला के उत्कृष्ट ज्ञान के बोधक है। मौर्यकाल से स्थापत्य तथा चित्रकारी की कला के विकास का स्पष्ट पता चलता है। उससे पूर्व इन कलाओ के सकेत अवश्य मिलते है। अशोक स्तम्भ के ऊपर बने सिहो की मूर्तियाँ (जो अब सारनाथ के सग्रहालय मे है), बौद्ध स्तूपो की पथरीली चहारदीवारी तथा उसमे बने हुये तोरणो पर खुदे हुये चित्र, अजन्ता, एलोरा, बाघ (मालवा) तथा उदयगिरि की गुफाओ मे की गयी चित्रकारी आदि स्थापत्य कला तथा चित्रकला के उत्कृष्ट उदाहरण है।

उपरोक्त विवरणो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत प्राविधिक ज्ञान की बहुमूल्य निधि है। प्राविधिक शिक्षा के विकास के लिए प्राचीन भारत के साहित्य का बृहत् अध्ययन तथा विभिन्न विषयों में शोधकार्य बहुत आवश्यक है। इसी उद्देश्य को ध्यान मे रखकर हिन्दू धर्म सुधारकों ने भारत मे गुरुकुल प्रणाली तथा ब्रह्मचर्य के पुनर्जागरण के लिये बीसवी शताब्दी के आरम्भ मे गुरुकुलो की स्थापना की थी। जैसे गुरुकुल कागडी (हरिद्वार) तथा वृन्दावन गुरुकुल।

पञ्चशिखाचार्य

—डा॰ निगम शर्मा
रीडर-अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
गुरुकुल कागड़ी विश्वविद्यालय

शास्त्र उनके लिए हैं जो सत्त्व की उत्तमता की ओर उन्मुख हैं। संसार का विष-वेग तभी तक मनुष्य को पीड़ित तथा प्रभावित करता है जब तक कि कैवल्यरूप गरुड़-मंत्र हाथ नही लगता। विवेक-ख्याति से प्राप्त तत्त्व-ज्ञान चित्त को अयस्कान्त मणि के तुल्य स्वच्छ तथा निरातङ्क बनाता है। इसी ज्ञान से ज्ञान मे प्रसन्नता और निर्वाण-प्रीति प्राप्त होती है। आकार, शील, चेतना आदि से पृथक् होकर तब मनुष्य आत्म-भाव को प्राप्त हो जाता है। यही पुरुष का परम प्रयोजन है।

इस प्रकार का ज्ञान-संकेत देने वाले आचार्य पञ्चशिख है। ये कब, कहाँ पैदा हुए यह बताना दुष्कर कार्य है क्योंकि अन्य वसिष्ठ, कपिल, असित, शाण्डिल्य आदि ऋषियो के समान आचार्य पञ्चशिख भी बहुत पौराणिक हो चुके है। 'हर विजय' महाकाव्य के प्रणेता महाकवि रत्नाकर इनका एक नाम चूलिक बताते है। ऐसी किंवदन्ती है कि सृष्टि-प्रक्रिया सम्बन्धी उपदेशो मे ये प्राय. चूड़ी का दृष्टान्त दिया करते थे। अर्थात् जिस प्रकार चूड़ी जिस क्रम से पहनी जाती है, उसके उल्टे क्रम से उतारी जाती है। सबसे पीछे पहनी गयी चूड़ी सबसे पहले उतरेगी। उसी प्रकार यह सृष्टि का क्रम भी समझा जाय। इस प्रक्रिया मे पृथ्वी का निर्माण सबसे अन्त मे हुआ, अत पृथ्वी का प्रलय पहले होगा। फिर जल, अग्नि, वायु आदि क्रमश अपनी तन्मात्राओ मे प्रलीन होगे। इन्द्रियों के साथ तन्मात्राएँ अहङ्कार मे तथा अहङ्कार इन सबके साथ महत् तत्त्व मे तथा महत् तत्त्व प्रकृति में प्रलीन होगा।

'हर विजय' महाकाव्य ६-१८ पर वह श्लोक इस प्रकार पठित है—

प्रकृतेः पृथग् विकृति शून्यतां गतः प्रतिषिद्ध वस्तुगत धर्म निष्क्रियः।
पुरुष स्त्वमेव पर्चविंशक स्फुट चूलिकार्थ वचनैर्निगद्यसे॥

कवि रत्नाकर ने काव्य-प्रतिभा के साथ प्रकृति से पृथक्, विकृति से शून्य पचविशक पुरुष को समझाने के लिए चूलिक आचार्य की प्रशसा की है। पौराणिक स्तवन मे भी चूलिक या चूली की प्रशसा की गयी है :

> एतस्मिन्नेव काले तु चूली नाम महाद्युति. ।
> ऊर्ध्वरेता. शुभाचारो ब्राह्म तप उपागमत् ॥
> तपस्यन्त मृषि तत्र गन्धर्वी पर्युपासते ।
> सोमदा नाम भद्र ते ऊर्मिला तनया तदा ॥ ३३-११,१२

चूलो या चूलिक का परिचय काम्पिल्य (कासगज के पास गगा के किनारे) से भी रहा होगा जहाँ उन्होने इस प्राचीन सिद्ध-स्थान पर तप किया हो । इस पौराणिक श्लोक से यह भी पता चलता है कि ऊर्मिला की पुत्री सोमदा इनसे बहुत प्यार करती तथा इनकी देखभाल करतो थी। सोमदा को गन्धर्वी कहा गया है। हो सकता है कि यह गान्धार कन्या हो जैसा कि धृतराष्ट्र की सेवा मे मग्न गान्धारी के विषय मे अनुराग की गाढता को हम जानते हैं । ऐसे अनुराग की बहुत-सी कथायें—शीरी-फरहाद, लैला-मजनू, हीर-राझा के रूप मे इस क्षेत्र मे प्रभावकारी नाटकीय-सामग्री है फिर भी पचशिखाचार्य के ब्रह्म-दीप्त साधना की ख्याति अब तक व्याप्त है ।

आचार्य पचशिख ने दश मौलिक विषयो को इस प्रकार समझाया है—प्रकृति के विषय मे—१- प्रधान की एकता, २- अर्थवत्ता, ३- परार्थता, पुरुष के विषय मे—४- अन्यत्व, ५- अकर्तृत्व ६- बहुत्व, पुरुष और प्रकृति दोनों के विषय मे—७- अस्तित्व, ८- योग, ९- वियोग तथा१ ०- स्थिति अर्थात् वर्तमानता । यह दोनो प्रकृति और व्यक्त जगत् मे—इस प्रकार ये दश मौलिक अर्थ है जिनको विविध प्रकार के तर्कों, आख्यानो तथा पर-मत के खण्डन के साथ आचार्य ने समझाया है। इसी विषय को इस प्रकार भी समझाया गया है

> पुरुष प्रकृति बुद्धिरहङ्कारो गुणास्त्रय ।
> तन्मात्रमिन्द्रिय भूतं मौलिकार्था स्मृता दश ॥

आचार्य ईश्वर कृष्ण ने भी अपनी कारिका परम्परा मे इन दश मौलिक-अर्थों को समझाया है—१-भेदाना परिमाणात्० (१५, १६) से प्रधान (प्रकृति) का अस्तित्व समझाया गया, २-विपरीतमव्यक्तम्० (१०) से प्रकृति का एकत्व सिद्ध किया गया, ३-प्रीत्यप्रीति० (१२) से अर्थवत्ता सिद्ध की गयी, ४-त्रिगुणमविवेकि विषय: (११) से अन्यत्व को दर्शाया गया, ५-नाना विधैरुपायै० (६०) से शेषवृत्ति, ६-जनन-मनन करणानाम्० (१८) से पुरुष बहुत्व, ७-रगस्य दर्शयित्वा

(५६) से वियोग, ८-सयोग स्तत्कृतः सर्ग (२१) से संयोग, ६-सम्यग् ज्ञानाधिगमात् (६७) से कैवल्य, १०-तद्धिपरतिस्तथा च पुमान् (११) से अकर्तृत्व भाव की सिद्धि की गयी है।

इस प्रकार प्रधान प्रतिपाद्य विषय दश हैं। इनमे ५ विपर्यय-भेद, ६ तुष्टियाँ, २८ करणवैकल्य, ८ सिद्धियाँ=यह सब मिलकर ६० होते है। इन्ही तत्त्वो को सामान्य–विशेष रूप से समझाने के कारण इसे षष्टितत्र कहा गया है। अतत्त्वो से दूर लाकर तथा तत्त्व निकट लाकर तत्त्वदर्शी आचार्य ने मोहग्रस्त मानव का महान् कल्याण किया है। इस षष्टितन्त्र को शास्त्र इस कारण कहा जाता है कि इसमे समग्र विषयो का युक्ति-प्रमाण के साथ विशद् वर्णन है तथा खरे उतरे हुए सिद्धान्त के प्रति अनुशासनात्मक ग्रन्थ है। यद्यपि यह ग्रन्थ लुप्त-प्राय है पर अपने-अपने क्षेत्र के आचार्य इस ग्रन्थ और ग्रन्थकार को अपने ग्रन्थो मे सजोये हुए है। आचार्य पचशिख अब भी शास्ता बनकर शासितबुद्धि को अध्यात्म के लिए विशुद्ध तथा उपयोगी बनाते है। ऐसा समझा जाता है कि विलोचस्थान, जिसे अब बिलोचिस्तान कहा जाता है, यह क्षेत्र इस विषय के प्रचार-प्रसार का महान् क्षेत्र था। काश्मीर, पजाब, सिन्ध की ओर पाणिनि-व्याकरण, यास्कीय निरुक्त तथा पचशिखाचार्य के सिद्धान्तो के प्रचार के सूत्र मिलते हैं। महाभारत शान्तिपर्व २२० अध्याय मे पचशिख की बहुत प्रशसा मिलती है—

> आसुरे प्रथम शिष्य यमाहुश्चिर जीविनम् ।
> पचस्रोतसि य सत्र मासते वर्ष सहस्रिकम् ॥ २२०–१०

पातञ्जल योग-सूत्रो के व्यासभाष्य मे बहुत-से आकर्षक सन्दर्भो को आचार्य वाचस्पति मिश्र ने पचशिखाचार्य के नाम से ही प्रचारित किया है।

ससार के उन सभी लोगो के प्रति खिन्नता व्यक्त करते हुए आचार्य पचशिख कहते है कि इस व्यक्त जगत् को अथवा अव्यक्त कारण-भाव को ही आत्मत्व की प्रतीति से इसकी सम्पदा के साथ जो अपनी आत्म-सम्पदा मानते है अथवा इसको विपद के साथ अपनी ही विपदा मानकर जो अपने लोचन मे अनुशोचन भरते हैं, वे सबके सब सावधानी से रहित है। जब तक पुरुष चेतनत्व, अपरिणामित्व, शुद्धत्व की योजना से अपने आपको बुद्धि से पृथक् नही देखेगा तब तक वह मोहग्रस्त ही रहेगा। मोहवान् व्यक्ति के द्वारा किया गया शुभ भी अशुभ से ससृष्ट है परन्तु कुशल व्यक्ति के लिये कही भी शोक नही क्योकि उसके विमल-विपुल भडार मे आत्म-रस का अमृत अपना मद भरता रहता है। कैवल्य-सुख का कही भी अपकर्ष नही है।

बुद्धिवृत्ति यदि अचेतन है तो चेतन के समान काय कैसे करती है ? इसको समझाते हुए आचार्य पचशिख बतलाते है कि भोक्तृशक्ति निर्विकार और निर्लेप है, वह कही सक्रान्त नही होती पर विकार ग्रहण करने वाली बुद्धि मे प्रतिसक्रान्त होती है। इस चेतन्य से अनुग्रहीत हुई बुद्धि चेतनवत् चेष्टा करने लगती है। इस प्रकार बुद्धिवृत्ति तथा ज्ञानवृत्ति परस्पर सश्लिष्ट रहने से ज्ञानवृत्ति (पुरुष) अपने को भोक्ता, कर्त्ता आदि मानने लगती है।

जन्म, स्थान, बीज, आधार, शौचाधान तथा मृत्यु को देखकर इस अशुचि-शरीर से विरत होकर पुरुष की दृष्टि बहुत-ही सरल, सूक्ष्म और सुकुमार हो जाती है। जिस प्रकार ऑख मे पडा हुआ बाल का छोटे से छोटा टुकडा नेत्र के लिए असह्य हो जाता है, इसी प्रकार सुकुमार चित्त वाले आत्म-वादी के सुकुमार हृदय मे छोटी से छोटी अ ुचिता बहुत कष्टदायिनी होती है। यह बात निश्चित जाननी चाहिए कि धर्मी का धर्म के साथ अनादि सम्बन्ध है, तभी तो प्रकृति को प्रधान कहा जाता है। प्रकृति यदि हर समय विकार ही करती रहे तो विकार की नित्यता मे वह प्रधान नही रह सकती क्योकि विकार की निरन्तरता मे कारण-सामग्री का विध्वस हो जाता है। यदि प्रकृति अपने प्रगतिधर्म को छोडकर स्थितिधर्म मे ही रहती हुई विकार से रहित हो जाय तब भी वह प्रकृति नही रह सकती क्योकि विकाराभावदशा मे उसकी प्रधानता मे अवस्थित कारणसामग्री निष्प्रयोजन हो जाएगी। अत प्रगति-दशा तथा स्थिति-दशा के ही कारण यह प्रकृति प्रधान कहलाती है तथा अपने महामोह के इन्द्रजाल मे प्रकाशशील सत्त्व को लपेटकर अकार्य मे प्रवृत्त कराती है।

अत तय करके मन को शुद्ध करना चाहिये। आचार्य पचशिख का कहना है कि प्राणायाम से बढकर कोई तप नही हो सकता क्योकि प्राणायाम के द्वारा मल की विशुद्धि होती है और ज्ञान की दीप्ति होती है। इस प्रकार व्रताचरण से, प्रमाद से उत्पन्न हिसा आदि दोष समाप्त होते है और शुभ कर्मो की ओर प्रवृत्ति होती है। केवल भोग का अभ्यास बढाते रहने से राग की निरन्तर वृद्धि होती है, साथ ही इस ओर इन्द्रियो का कौशल भी बढता है। पच-शिखाचार्य कहते हैं कि इतनी सरल-सुबोध अनुभूति से हर विवेकी को आत्म-निरीक्षण करना चाहिये।

नव प्रकार के कारणो का ज्ञान कराते हुए आचार्य कहते है कि विज्ञान की उत्पत्ति का कारण मन है। मन से ही विशिष्ट-ज्ञान की उत्पत्ति होती है जिससे पुरुष देह और आत्मा की पृथक्-पृथक जानकारी प्राप्त करता है। दूसरा स्थिति-कारण है। स्थिति-कारण भी मन के लिए पुरुषार्थ है। जिस प्रकार कि शरीर की स्थिति का कारण आहार है, उसी प्रकार मन की स्थिति से ही

पुरुषार्थता की सिद्धि होती है। तीसरा कारण अभिव्यक्तिकारण है। जिस प्रकार कि रूप की अभिव्यक्ति के लिए आलोक कारण है, इसी प्रकार इन्द्रिय भी रूप की अभिव्यक्ति के लिये कारण है। चौथा विकार-कारण है। जिस प्रकार कि पकाई जाने वाली वस्तु को अग्नि पाकावस्था मे लाने के लिये कारण बनती है, उसी प्रकार मन भी विषयान्तर से विकारावस्था को प्राप्त होता है। पाँचवाँ प्रत्यय-कारण है। जिस प्रकार अग्नि–ज्ञान के लिए धूम-ज्ञान कारण है, उसी प्रकार बुद्धि-ज्ञान आत्म-ज्ञान मे कारण है। छठा प्राप्ति-कारण है। योगानुष्ठान से विवेक-ज्ञान की प्राप्ति होती है। सातवाँ वियोग-कारण है। योगानुष्ठान से ही अशुद्धि का क्षय होता है। आठवाँ अन्यत्व-कारण है। जिस प्रकार कि सुवर्ण को सुवर्णकार अन्यत्व मे परिवर्तित करके उसे नाना रूप दे देता है, इसी प्रकार प्रकृति से विकृत होकर पदार्थ नाना रूप मे अवभासित होने लगते है। इसी प्रकार एक ही स्त्री मूढत्व के लिए अविद्या है, दुख के लिए द्वेष है तथा सुख के लिए राग है पर वही स्त्री तत्त्वज्ञान के लिए मध्यस्थ का काम करती है। नवाँ धृति-कारण है। इन्द्रियाँ के लिये धृति-कारण शरीर है तथा शरीर के लिए इन्द्रियाँ है। महाभूत शरीरो के लिये धृति कारण है और वे परस्पर भी धृति-कारण है।

इस प्रकार आचार्य पचशिख ने माया-मोहग्रस्त मानव को अतीन्द्रिय-ज्ञान कराकर आत्म-वैकल्य को दूर किया है। आचार्य समझाते है—पाँच ही इन्द्रियाँ हैं जो शब्द आदि पाँचो विषयो का ग्रहण करती है। छठा विषय अथवा उसका ग्राहक कोई इन्द्रिय नही है। यही पर 'अप्सरा' का भी अर्थ समझ लेना चाहिये– 'आप पुरुषवचसो भवन्ति' इस श्रुति के अनुसार जब जल आदि प्रधानभूत शरीराकार मे परिणत हो जाते है, उनमे अनुसरण करने वाली चित्तिशक्ति ही 'अप्सरा' है। इसकी पाँच शिखाये—प्रमाण–विपर्यय–विकल्प–निद्रा और स्मृति रूप से जानी जाती है। उन-उन विषयो का आकार ग्रहण करके तदाकार होने के ही कारण इन्हे शिखा या चूडा कहा गया है। इस विषय के पारङ्गत आचार्य होने के कारण इन्हे 'पचशिख' उपाधि मिली होगी।

आत्म-गुण बनी हुई बुद्धि इन्द्रियो के साथ मन्तव्य, बोद्धव्य, भोक्तव्य, शब्द आदि विषयो की ओर उन्मुख होती है। इनमे एक-एक मे आसक्त पुरुष पशु है। ये विषय भी ग्राम्य–वन्य–ऐहिक–पारलौकिक आदि भेद से विविधता रखते है। पुरुष को सासारिक अथवा वैदिक द्वन्द अपनी माया के कारण आच्छादित कर लेते है। इस सुख-लेश मे परमब्रह्म अन्तर्हित हो जाता है, तभी तो इन्हें द्वन्द (आच्छादित करने वाला) कहा गया है। जिस प्रकार सात–तन्त्री मे बजती हुई वीणा शब्दानन्द को जन्म देती है, इसी प्रकार सात स्वरो में अभिव्यक्त होने वाली यह काया, वीणा बनकर आत्मा को लुभाने के लिए अपनी

उर्वशी–तान छेडती रहती है। आत्मा को इसका आस्वाद-सुख मिलता है। परन्तु जिसने इस देह–वीणा को बजाया ही नही वह त्यक्त वास्य (छोड़ दिया है वास्य=वसूला जिसने) तक्षा (बढई) के समान कारण-सामग्री के न रहने पर स्वस्थ (अपने मे स्थिर) हो जाता है।

विस्मय तो यह है कि जो स्वय ही दृश्य है, उस बुद्धि को द्रष्टा कैसे समझा जा रहा है? इसी सूक्ष्मार्थ को समझाने के कारण आचार्य को चूलिक कहा गया है।

पचशिखाचार्य के विचार मे ज्ञान-उपासना तथा तदनुरूप ही कर्म करने से मोक्ष-हेतु उत्पन्न होता है। तत्त्व-ज्ञान से न केवल वासना का क्षय होता है अपितु मन का ही नाश हो जाता है। जब तक मन विलीन नही हो जायेगा तब तक वासना का क्षय भी नही होगा। चित्त के उपशमन के उपरान्त ही तत्त्व-वेदना उत्पन्न होती है। तत्त्व-प्राप्ति मे ही वासना का क्षय सम्भव है। आत्म-ज्ञान की उपलब्धि होते ही पर- वैराग्य की प्राप्ति होती है, जिससे सुख-दु ख आदि द्वन्द्वो पर विजय मिलती है। धीरे-धीरे समस्त सशय क्षीण हो जाते है। मानव को वह उपलब्धि मिल जाती है जिसके पा जाने से वह कृत-कृत्य या कृतार्थ हो जाता है और राजा जनक की वाणी मे यह कहने का अधिकारी बन जाता है—

> पराशर सगोत्रस्य वृद्धस्य सुमहात्मन ।
> भिक्षो पचशिखस्याह शिष्य परम सम्मत ॥

शान्तिपर्व ३२०-२४

आर्य समस्या पर कुछ स्फुट विचार

प्रो० ठाकुरप्रसाद वर्मा
हरिद्वार

अब से ठीक दो सौ वर्ष पूर्व (१७८६ मे) अग्रेजो के फोर्ट विलियम (कलकत्ता) के मुख्य न्यायाधीश विलियम जोन्स ने यह सम्भावना व्यक्त की कि यूनानी, लातिनी, गोथिक, केल्टिक, फारसी एव सस्कृत आदि भाषाओ को बोलने वाले किसी एक ही स्थान पर साथ-साथ रहते थे। जब से प्रथम यूरोपीय उपनिवेश पुर्तगालियो ने गोवा मे स्थापित किया तभी से इनको यह जानकर विस्मय होता था कि भारतीय भाषाओ मे अनेक ऐसे शब्द है जिनसे मिलते-जुलते शब्द यूरोपीय भाषाओ मे भी मिलते है। इस जिज्ञासा ने यूरोपीय विद्वानो को भाषाओ के तुलनात्मक अध्ययन करने को प्रेरित किया। इस जिज्ञासा का परिणाम यह निकला कि सस्कृत सहित जितनी भी अन्य प्राचीन भाषाएँ है—यथा, जेन्द, फारसी, पश्तो, बलूची, बुर्द, आस्मेनियमन, यूनानी, लातिनी, गोथिक, केल्टिक, लिथआनियन, अल्बेनियन, तुखारी, हिन्दी, फ्रन्च, जर्मन, ट्यूटानिक, स्लावोनिक, अग्रेजी आदि—सबका अध्ययन किया गया और इस प्रकार तुलनात्मक भाषाविज्ञान की नीव पडी तथा एक भाषा-परिवार की कल्पना की गई। इन्डो-जर्मनिक, इन्डो-केल्टिक, इन्डो-ईरानी, इन्डो-यूरोपियन अथवा आर्य भाषा परिवार आदि नाम सामने आये। इनको बोलने वाली आर्य जाति कही भारत के बाहर निवास करती थी जो भारत मे सक्रमण करके आई। इस प्रकार भारतीय इतिहास ही नही, प्राचीन विश्व के इतिहास मे दो मिथक प्रस्थापित किये गये जिन पर विगत शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे इतना ऊहापोह और इतनी गर्मागर्म बहस हुई कि बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ होते-होते यह एक पूर्णरूपेण स्थापित तथ्य बन गया कि आर्य जाति थी और वह कही बाहर रहती थी और पश्चिम के स्थल-मार्ग से भारत मे आई। कृषि और पशुपालन करने वाली, विकास के प्रारम्भिक अवस्था मे रहने वाली यह आर्य जाति जब भारत मे आई तो यहाँ के मूल निवासियो को पराजित करके यहाँ बस गई तथा धीरे-धीरे जगलो को साफ करती हुई, पूर्व की ओर गगा-

यमुना की घाटियो की ओर बढने लगी। सौभाग्य से इसी समय बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण के अन्तिम वर्षों मे मोहेन्जो-दाडो एव हडप्पा की खुदाइयो से अत्यन्त प्राचीन सभ्यताओ के अवशेष प्रकाश मे आये जो प्राचीन मिस्र, सुमेर एवं बेबीलोन की सभ्यताओ की समकालीन नागर-सभ्यताएँ सिद्ध हुईं। इन उत्खननो से प्राप्त प्रतिकूल तथ्यो को दबाने और अनुकूल तथ्यों को प्रमाण-स्वरूप प्रस्तुत करते हुये यह कहा जाने लगा कि यह द्रविडो की सभ्यता थी जो अति विकसित थी और आर्यो ने इसको नष्ट कर दिया। प्रमाण खोजे जाने लगे। इन्द्र द्वारा शत्रुओ के पुरो को नष्ट करने वाली बात को स्वीकार कर लिया गया किन्तु सैकडो स्तम्भों वाले भवनो, आठ सेक्टरो मे विभक्त नौ प्रवेशद्वारो से युक्त नगर, पैदल और रथो के लिए विभक्त मार्ग की वैदिक उक्तियो को नजर-अन्दाज कर दिया गया। तथाकथित आर्य जाति के पूर्वाभिमुख प्रसार की बात को सिद्ध करने के लिए वेद की ऋचाओ तथा ब्राह्मणा के उल्लेखो का सहारा लिया गया। अथर्ववेद के "गधारिभ्यो मूजवद्भ्य काशीभ्यो मगधेभ्य.। प्रष्यन्जनमिव शवेधि नवमान परिदभसि॥ ५। २२। १४" को इस बात के प्रमाणस्वरूप स्वीकार किया जाने लगा कि काशी और मगध आर्यों के क्षेत्र से बाहर थे लेकिन गधार और मूजवान प्रदेशों के लिए चुप्पी साध ली गई। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण के विदथमाधव को कथा को सन्दर्भ से अलग करके तथाकथित आर्यो के पूर्व की ओर प्रसार के लिये प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत किया जाने लगा।

इस प्रकार एक कल्पना ऐतिहासिक सत्य के रूप में प्रतिष्ठापित हो गई। विदेशी और भारतीय विद्वानो ने इसे स्वीकार कर लिया और समस्त इतिहास-ग्रन्थो मे इसका उल्लेख किया जाने लगा। इसने हमारे अन्तर्मन के अवचेतन स्तर तक अधिकार कर लिया जिसके कारण हमारे सभी शास्त्र, इतिहास, भाषा-शास्त्र, भाषा-विज्ञान, ध्वनि-विज्ञान, नृतत्व-शास्त्र आदि इसी विचार से ओत-प्रोत है। हम इससे बाहर जाकर सोच भी नही सकते। यही नही विदेशो पर भी इसका प्रभाव पडा। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय हिटलर ने जर्मनी के उत्थान का जो स्वप्न देखा उसके मूल मे जर्मनरक्त की शुद्धता और विशुद्ध आर्य जाति का होने का दावा ही था। समय-समय पर कुछ विद्वानो ने इस सोच के विरुद्ध स्वर ऊँचा किया किन्तु मिथ्या के प्रचण्ड प्रवाह को सीमित नही किया जा सका। अब समय आ गया है कि हम इस विषय पर विस्तार से विचार करे और आर्य सभ्यता के इस मिथक को, जो हमारे लिये एक समस्या बन गई है, नष्ट कर दे।

क्या आर्य कोई जाति थी ?

आर्यों को एक जाति के रूप मे प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। यह कहा गया है कि अनुमानत. २५०० से १५०० ई० पू० तक आर्य जाति दलो

में उत्तर-पश्चिमी सीमान्त के पथ से भारत मे प्रविष्ट हुई और उसने इस देश के आदिम निवासी द्रविड और कोल-भील आदि जातियों को पराजित करके क्रमश: उपनिवेश स्थापित किया। ये आर्य हिन्दू, फारसी, काकेशीय, ग्रीक और अन्यान्य यूरोपीय जातियो के पूर्वज थे। भारत के बाहर किसी स्थान मे इनकी प्राचीन निवासभूमि थी। किन्तु यह आर्य शब्द जिस भाषा और साहित्य से लिया गया है और जिस सस्कृति मे इसका प्रचुरता से प्रयोग मिलता है उसमे कही भी यह शब्द जाति के अर्थ मे प्रयुक्त नही किया गया है। ईरानी एव भारतीय दोनो ही साहित्यो मे इसका प्रयोग जाति के अर्थ मे नही मिलता। विडम्बना यह कि समस्त भारतीय साहित्य मे एक भी ऐसा सकेत नही मिलता जिससे ऐसा लगे कि प्राचीन भारतीय किसी अन्य क्षत्र से यहाँ आये। किन्तु सबसे पहले आर्य शब्द को ही लिया जाय।

वैदिक साहित्य मे 'अर्य' एव 'आर्य' दोनो ही शब्द प्रयुक्त हुये हैं तथा दोनो ही परस्पर सम्बन्धित है। अमरकोश ने 'स्वामी' और 'वैश्य' ये दो अर्थ अर्य शब्द के बताये है (अर्य स्वामी—वैश्ययो)। यहाँ पर सम्भवत: वैश्य शब्द वर्तमान प्रचलित रूढ अर्थ मे प्रयुक्त है जिसका मूल वैदिक 'विश्' शब्द है, जिसके अन्तर्गत सभी जनसाधारण आ जाते है, न कि केवल व्यापारीवर्ग। वैदिक साहित्य मे भी 'अर्य' शब्द का उल्लेख इसी सन्दर्भ मे आया है। यजुर्वेद मे (२६।२।) विभिन्न जनो का उल्लेख किया गया है जिनमे ब्रह्म, राजन्य, शूद्र आर्य, चारण के नाम लिये गये है। 'यथेमा वाच कल्याणीभाजदानि जनेभ्य ब्रह्म राजन्याभ्या शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च।' इसी प्रकार अथर्ववेद मे (१६।३२।८) मे भी 'ब्रह्म राजन्याभ्या शूद्राय चार्या च' कह कर समाज के चारो विभागो को इगित किया गया है। यहाँ उल्लेखनीय है कि 'अर्य' शब्द परवर्ती वैश्य के स्थान पर आया है। यदि इनको सन्दर्भच्युत करके देखा जाये तब आर्य और शूद्र को दो विभिन्न जातियो के रूप मे माना जा सकता है। यदि आर्य एक जाति मानी जाय तो शूद्र, ब्राह्मण और राजन्य (क्षत्रिय) को भी जातियाँ मानना पडेगा जो आर्यो से अलग थी। कई स्थानो पर शूद्र और आर्य शब्द साथ-साथ आये है और कुछ लोगो ने इनको दो पृथक्-पृथक् जातियो के सूचकशब्दो के रूप मे लिया है। शूद्र कौन-सी जाति थी, यह कोई नही बता सकता। वे कौन-से लोग है जो अपने को शूद्र नामक जाति से अभिहित करते हैं? वास्तव मे शूद्र एक सामूहिक सम्बोधन है जो सामाजिक स्तर की ओर सकेत करता है। इसका जाति मे कोई सम्बन्ध नही है। ऋग्वेद मे उल्लिखित 'आर्यविश्' (१०।११।४) अथवा 'दासीविश्' (४।२८।४ एव ६।२५।२) शब्द भी जातिबोधक शब्दों की ओर सकेत नही करते क्योकि 'दासी' या 'दास' कोई जाति थी अथवा अभी भी है, यह कही से सिद्ध नही हो पाता।

व्यक्ति अपने पूर्वजो को बदल नही सकता, अपने माता-पिता का चुनाव नही कर सकता, अपनी जाति बदल कर दूसरी जाति भी नही अपना सकता। किन्तु अपने आचार-व्यवहार बदल सकता है। एक सस्कृति अथवा आचार का पालन न करने से उससे च्युत हो सकता है। इसके कारण सामाजिक बहिष्कार जैसे दण्ड का अधिकारी हो सकता है। इसी प्रकार आर्यत्व प्रयत्नपूर्वक प्राप्त करने की वस्तु थी। जाति को भाँति स्वत· उपलब्ध होने वाली वस्तु नही थी। 'कृतेन हि भवेदार्यो न धनेन न विद्यया।' धन या विद्या के प्रभाव से व्यक्ति आर्य नही होता, वरन् अपने चरित्र एव आचरण से आर्यत्व को प्राप्त होता है।

कर्त्तव्यमाचरन काममकर्त्तव्यमना चरन् ।
तिष्ठति प्रकृताचारे स तु आर्य इति स्मृत ॥

अर्थात् करनेयोग्य कर्मो का आचरण करके और न करनेयोग्य कर्मों का आचरण न करके, प्रकृत आचार मे स्थित रहने वाला आर्य है। 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' घोष भी यही सकेत करता है कि 'आर्य' एक सस्कृति थी जिसका प्रचार-प्रसार किया जा सकता है। आर्य कहे जाने वाले व्यक्ति भी अपने आचार से च्युत होकर शूद्रत्व को प्राप्त कर सकते थे। मनु ने व्यवस्था दी है

शतकैस्तु क्रियालोपादिमा क्षत्रिय जातय ।
वृषलत्व गता लोके ब्राह्मण दर्शनेन च ॥

मुख बाहू रूप्पज्जना या लोके जातयो बहि ।
म्लेच्छावाचश्चार्यावाच सर्वेदस्यव स्मृत ॥

(यज्ञादि) कर्मो के न करने से क्षत्रिय जातियाँ शूद्रत्व अथवा वृषलत्व को प्राप्त होती है। चाहे वह म्लेच्छ भाषा बोलने वाला हो अथवा आर्य भाषा, उसे दस्यु (दास अथवा शूद्र) ही कहा जायेगा।

यदि प्राचीन भारतीयो को ज्ञात जातियो (या सस्कृतियो) पर विचार करे तो हमे प्राचीनतम साहित्य मे देव, दानव (दैत्य), असुर, मनुष्य, पिशाच, यक्ष, राक्षस, नाग, विद्याधर, गधर्व, सिह, किन्नर आदि नाम मिलते है। (दे० रामायण, गीताप्रेस, सुन्दरकाण्डम्, ५१,४१-४१-४३, युद्ध काण्डम् ६०।६ आदि) कही भी आर्य शब्द मानवसमूह अथवा जाति के अर्थ मे नही आया है। इनमे कुछ जातियाँ, यथा नाग, किन्नर आदि आज भी खोजी जा सकती है। पुराणो मे आये देवासुर युद्धो मे उल्लिखित असुरो की पहचान अब पुरातत्त्वविदों द्वारा खोजे गये असीरिया के असुर साम्राज्य से की जा सकती है। ईराक के

ध्वसावशेषो मे से असुर बनोपाल का मिट्टी के ठीकरो पर उत्कीर्ण पुस्तकालय पुरातत्त्वज्ञो ने खोज निकाला है जिसमें सिन्धु देश के बने कपास के कपडे का उल्लेख मिलता है। किसी ने भारतीय दृष्टिकोण से, प्राचीन भारतीय साहित्य के प्रकाश मे, इन तथ्यो का अध्ययन करने का प्रयास नही किया है। सैन्धव सभ्यता के समान मुद्राओ का इन स्थानो से प्राप्त होना भी दोनो सभ्यताओ के पारस्परिक सम्बन्धो की पुष्टि करता है। किन्तु अभी तक हमारी मानसिकता इस प्रकार का प्रयास करने वाले को परम्परावादी और प्रतिगामी मानने की रही है। यह अनुसन्धान का विषय हो सकता है कि क्या असुरो की यह संस्कृति हमारे प्राचीन साहित्य मे वर्णित असुरो की सस्कृति से कोई साम्य रखती है? क्या दिति और अदिति के पुत्रो की कथा का कोई ऐतिहासिक महत्व है? क्या यह मात्र एक सयोग की बात है कि हमारे भारतीय मानस मे 'असुर' का जो भयकर चित्र है वैसा ही चित्र ईरान और उसके पश्चिम के क्षेत्रो मे 'देव' का भी है? हमे इन बातो पर विचारपूर्वक शोध करना चाहिये तभी हम गोपथ ब्राह्मण (१।१।१०) के 'असुर वेद' छान्दोग्योपनिषद (८।८।५) के 'असुराणा ह्येषेपनिषद' शतपथ ब्राह्मण (१।१।४।१४) के 'असुर ब्राह्मण' अथवा हरिवश (४८।६) के 'दानव ऋषि' के अर्थ वास्तविक परिप्रेक्ष्य मे समझ सकेगे। हमे 'आर्य वेद', 'आर्य उपनिषद', 'आर्य ब्राह्मण' अथवा 'आर्य ऋषि' के उल्लेख कही नही मिलते। बाल्मीकीय रामायण मे जहाँ कही भी राक्षसो के मुख से राम अथवा इस क्षेत्र के लोगो का उल्लेख आया है उनमे उन्हे सदैव मनुज, मानव आदि ही कहा गया है जबकि वे स्वय को गर्व से राक्षस कहते हैं। रावण के वध के उपरान्त मन्दोदरी विलाप करती हुई कहती है :

पिता दानवराजा मे भर्ता मे राक्षसेश्वर.।
पुत्रो मे शक्रनिजता इत्यहं गर्विता भृशम।

युद्धकाण्डम् १११।३९–४०

विभीषण रावण के 'अनार्यजुष्ट वचन' को सुनकर उससे अपना मत व्यक्त करता है (सुन्दरकाण्डम् ५२।१२)। युद्धकाण्ड के १६वे सर्ग मे रावण विभीषण को फटकारते हुये पाँच श्लोको मे 'तथानार्येषु सौहृदम' कहता है। रावण को मृत्यु के पश्चात राक्षसस्त्रियाँ रणभूमि मे अपने पतियो को खोजती हुई 'आर्यपुत्र' 'हा नाथ' आदि शब्दो का उच्चारण करती हैं। सुन्दरकाण्ड मे सीता जी सुग्रीव को 'आर्य' कहती है। यदि राक्षस और वानर आर्य कहे जा सकते हैं तो इसे किस प्रकार जातिसूचक माना जा सकता है। अपने ब्राह्मणत्व और सस्कृति पर गर्व करने वाले लेखक वानर और राक्षस के लिये आर्य किस प्रकार लिख सकते थे? अत किसी भी विद्या से आर्य शब्द जातिबोधक शब्द नही हो सकता। यूरोपीय विद्वानो द्वारा किसी अन्य अधिक

व्याप्ति वाले शब्द के अभाव में 'आर्य' शब्द को उन सभी लोगो के पूर्वजों के लिये प्रचलित कर दिया गया जो भारोपीय (इन्डोयूरोपीय) भाषाओं को बोलते थे। विगत दो शताब्दियो से हमने भी इसे इस भाँति अपना लिया तथा प्रारम्भिक कक्षाओं से लेकर उच्चतम डिग्रियों तक के लिये हमे यह पाठ इतनी बार पढाया गया कि अब हम इसे एक पूर्णतया स्थापित सत्य मानते है।

मूलस्थान की खोज—

जब आर्य जातिवाचक शब्द नही है तो उनके मूलस्थान की खोज करना व्यर्थ का बौद्धिक व्यायाममात्र है। किन्तु अब आर्य शब्द का उपयोग वैदिक भारतीयो के लिये रूढ हो गया है और यह एक पूर्णतया स्थापित तथ्य के रूप मे स्त्रीकार किया जाने लगा है कि वैदिक भारतीयो के पूर्वज कही बाहर से भारत मे आये। अत. इस विषय पर विचार कर लेना आवश्यक है। वैदिक भारतीयो के बाहर से आने के विचार के पीछे भाषाशास्त्रीय तथ्य थे जिन पर हम आगे विचार प्रकट करेंगे, किन्तु इनके पीछे साम्राज्यवादी इरादे भी थे, इससे इन्कार नही किया जा सकता। अग्रेजी दासता के युग मे हमारे ऊपर सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक प्रहार किसी अन्य युग की अपेक्षा अधिक किये गये। आर्य समस्या उन्ही मे से एक सबसे प्रबल प्रहार है। इससे जहाँ एक ओर भारतीयो का मनोबल क्षीण किया गया कि यह उनका मूल देश नही है और इस पर गर्व एव अभिमान करने की बात नही है, वही दूसरी ओर उत्तरभारतीय आर्य और दक्षिणभारतीय द्रविड है, यह बताकर फूट का बीज डाला गया। यह भी प्रभाव डाला गया कि इस भारतवर्ष रूपी धर्मशाला मे जिस प्रकार शक, पहलव, तुर्क, अफगान, मगोल आए, उसी प्रकार अग्रेज भी आये है और उनका भी इस देश पर उतना ही अधिकार है जितना अन्य किसी का। इसके लिये उनके तर्को के अनुकूल प्रमाणो को पुरस्कृत किया गया और प्रतिकूल प्रमाणो को दबा दिया गया। यहाँ पर उदाहरण के लिये मेगस्थनीज के एक उदाहरण को प्रस्तुत करना उचित होगा जो अब से २,३०० वर्ष पूर्व चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार मे यवन राजदूत होकर आया था और भारत के विषय मे उसके अनेक उद्धरणो को बड़े प्रामाणिक तथ्यो के रूप मे बार-बार प्रस्तुत किया है। मैंकक्रिण्डल द्वारा सम्पादित 'ऐन्शियन्ट इन्डिया, मेगस्थनीज' के पृ० ३४ पर उद्धत है कि 'ऐसा कहा जाता है कि भारत एक विशाल देश होने के कारण, जब सम्पूर्ण रूप से लिया जाये तो उसमे विभिन्न एव बहुसख्य जातियाँ बसती है जिनमे से एक भी मूलत. विदेशी नही है, प्रत्यक्षत. सभी देशी है, और यह भी कि भारत मे न कोई उपनिवेश बाहर से आकर स्थापित हुआ और न कभी बाहर जाकर उपनिवेश स्थापित किया गया।'

इससे स्पष्ट है कि अबसे २,३०० वर्ष पूर्व भारतीयो और विदेशियो मे भी किसी को यह पता नही था कि हम आर्य हैं और कही बाहर से आये है। कुछ विदेशी लेखकों ने भी इस तथ्य को ओर इशारा किया है। विगत शताब्दी मे 'भारत का इतिहास' लिखते समय एलफिन्टस्टन ने स्वीकार किया है कि मनुस्मृति तथा वेदो मे अथवा किसी भी (भारतीय) ग्रन्थ मे आर्यों के भारत के बाहर रहने या भारत के अतिरिक्त किसी अन्य देश का सकेत नही मिलता। कीथ ने भी 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया' पृ० ७८ पर लिखा है कि 'वैदिक भारतीय भारत मे किस प्रकार आये, इस विषय पर ऋग्वेद से निश्चय ही कोई सहायता नही मिलती।' अतः उसने सावधान किया है कि 'इन सामग्रियो से निष्कर्ष निकालने मे बहुत सावधानी बरतनी पडेगी।' किन्तु वह तो भारतीयो को आर्य सिद्ध करने एव उन्हे बाहर से आया हुआ सिद्ध करने के लिये तुला बैठा था और उनके आने का मार्ग निर्धारित किया।

इसके साथ ही आर्यो की एक विशिष्ट छवि प्रस्तुत की गई। आर्य गौरवर्ण और लम्बे थे। वे घोडो पर यात्रा एव सक्रमण करते थे, वे कृषिकर्मी एव ग्राम्यजीवन बिताने वाले लोग थे, आदि चित्र प्रस्तुत किये गये जो या तो अज्ञान पर आधारित थे अथवा धूर्तता से प्रेरित थे। हमारा भारतीय साहित्य बताता है कि अनेक ऋषि-महर्षि कृष्णवर्ण थे। साक्षात मनु के वश मे जन्म लेने वाले श्रीराम कृष्णवर्ण थे। उनके भ्राता लक्ष्मण गौरवर्ण थे। यह बात आज भी हम भारतीय परिवारों मे पाते है कि एक ही वश से उत्पन्न कुछ भाई गौरवर्ण है और कुछ कृष्णवर्ण। महाभारत काल मे भगवान श्रीकृष्ण भी कृष्णवर्ण के थे। कुछ महर्षियो के भी कृष्णवर्ण होने का उल्लेख आता है। आर्यो को अनिवार्य रूप से घोडो से जोडकर छलपूर्वक यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया कि सैन्धव सभ्यता से आर्यो का सम्बन्ध नही है क्योकि वहाँ घोड़ो के अवशेष नही मिलते। इसे एक गम्भीर तर्क के रूप मे प्रस्तुत किया गया। भारतीयो को घोडो का ज्ञान नही था अथवा वे उनका उपयोग नहीं करते थे, ऐसी बात नही है किन्तु इस बात को एक प्रमाण के रूप मे उपस्थित करना धूर्तबुद्धि का परिचायक है। इसी प्रकार कृषिकर्म एव ग्राम्यजीवन को आर्य जाति से समीकृत करने वाली बात भी है। इसमे यह तर्क निहित है कि वैदिक लोग अन्य उद्योग-धन्धे एव व्यापार विकसित नही कर सके थे। अत. विकास के प्रारम्भिक स्तर पर थे एव नागर सभ्यता से सर्वथा अपरिचित थे। डा० सत्यकाम वर्मा ने 'वैदिक स्टडीज (पृ० १४०) मे अनेक प्रमाण देकर यह बताया है कि वैदिकसमाज उद्योगप्रधान, नगरवासी समाज था जो कृषि के क्षेत्र मे भी काफी प्रगतिशील था। अथर्ववेद मे अष्टचक्रा एव नवद्वार वाले नगर के उल्लेख को एक कल्पनामात्र स्वीकार किया जा रहा है। किन्तु इस प्रकार काल्पनिक ही सही, एक नगर का उल्लेख क्या यह प्रकट नही करता कि वैदिक भारतीय नगर से अपरिचित नही थे। रथो एवं पैदल चलने

वाले लोगो के लिए पृथक् सडको की योजना (अथर्ववेद १२।१।४७), सुनिर्मित द्यूतगृहो का अस्तित्व जिनके अपने नियमोपनियम थे (ऋग्वेद १०।३४।५-६, अथर्ववेद १८।३।४६), सुनिर्मित एव वेगवान रथो (ऋग्वेद १।३८।१२, १।३६।६, १।१६४।२–३, २।१८।४–७ आदि) ग्राम्य सभ्यता की ओर तो इगित नही करते। इसलिये भारत मे नगर नही थे और भारतीय नागर-सभ्यता से अपरिचित थे अथवा वे नागरसभ्यता वाली जातियो के शत्रु थे और उन्होने नागर सभ्यताओ का विनाश किया, आदि बाते निहित मन्तव्यो से प्रेरित एव अज्ञान पर आधारित थी। हमने स्वय भी इस दिशा मे मौलिक शोध न करके विदेशियो द्वारा किये गये शोधो को स्वीकार कर लिया एव उनके अनुवादो तक ही अपने ज्ञान को सीमित रखा।

पुरातत्व शास्त्र ने भी इस दिशा मे अपना योगदान किया है। पुरातात्विक प्रमाणो को अधिक ठोस एव अकाट्य रूप से प्रस्तुत किया जाता है तथा प्राचीन भारतीय साहित्यिक प्रमाणो को काल्पनिक एव अप्रामाणिक मानकर एकदम उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता है। जान मार्शल एव ह्वीलर की परम्परा मे दीक्षित भारतीय पुरातत्वज्ञ अभी तक अपने को उनके द्वारा स्थापित मानदण्डो से पृथक् नही कर पाये है। विडम्बना यह है कि उनकी परम्परा का पालन करते हुये उत्खनक स्वयं ही अपने द्वारा उत्खनित सामग्री का विश्लेषण एव निष्कर्ष भी प्रस्तुत करता है जबकि वह अनिवार्य रूप से साहित्य एव इतिहास का ज्ञाता नही होता। इसी कारण सम्प्रति तो स्थिति यह दिखाई पडती है कि भारतीय इतिहास के लिये साहित्य एव पुरातत्व एक समान धरातल पर कभी खडे नही हो सकेगे। यह भारतीय पुरातत्व द्वारा प्रारम्भ मे किये गये भ्रान्तिपूर्ण विश्लेषण का परिणाम है। वर्तमान विश्लेषणो के आधार पर समस्त पुरातात्विक साक्ष्य इस ओर इगित करते दिखाई पडते है कि भारत मे मानव सभ्यता के प्रसार की दिशा पश्चिम से पूर्व की ओर है। पजाब (वर्तमान पाकिस्तान को सम्मिलित करके) मे पूर्व की दिशा मे क्रमश सभ्यता का विकास हुआ। किन्तु जब स्वतन्त्रता पूर्व के सम्पूर्ण भारत के बाहर के पुरातात्विक अवशेषो पर इस दृष्टि से विचार करते है तो पश्चिम से आने वाले इस तथाकथित सभ्यता के प्रवाह के चिन्ह नही मिलते। सैन्धव या हडप्पीय सभ्यता के जो शताधिक बस्तियो के अवशेष खोजे जा चुके है, उनमे दो-तिहाई से अधिक स्वतन्त्रता पूर्व के सम्पूर्ण भारत मे और शेष थोडे से इसके पश्चिम में मिलते हैं। सैन्धव सभ्यता के अवशेषो से प्राप्त सामग्रियो के वैदिक सभ्यता के अनुरूप होने के प्रमाणो के विस्तार मे न जाकर यहाँ यही कहना पर्याप्त होगा कि यह निश्चय ही भारतीय सभ्यता थी और वैदिक सभ्यता के अनुकूल थी।

यहाँ पर मैं पुरातत्वज्ञो का ध्यान एक और तथ्य की ओर आकर्षित करना चाहूँगा। साहित्यिक साक्ष्यो का उपहास करने वाले ये विद्वान अपने

उत्खननो मे स्तरो का वर्गीकरण करते समय गुप्त, कुषाण, शुंग, मौर्य स्तरो तक के तो नामकरण इन राजवशो के नाम के आधार पर करते हैं जो केवल साहित्यिक स्रोतो पर ही मुख्य रूप से आधारित हैं किन्तु उसके पूर्व के स्तरों के लिये मृदभाण्डो के वर्गीकरण के आधार पर निर्मित सस्कृतियो का नाम देते है। इस प्रकार धूसरचित्रित मृदभाण्ड सस्कृति, कृष्ण परिमार्जित मृदभाण्ड सस्कृति आदि नाम देकर उनका कालक्रम निर्धारित करते है। यह अधेरे मे तीर चलाने के समान है क्योकि ज्यो ही कोई नवीन तथ्य उत्खनन से प्रकाश मे आता है, निष्कर्षों को पुनरीक्षित करना पडता है।

पुरातत्वज्ञो के काल-निर्धारण मे कुछ न कुछ त्रुटि अथवा भ्रम है, इसको स्वीकार करना पडेगा। उदाहरण के लिये बुद्ध के काल को लेते हैं। गौतम बुद्ध का काल प्राय. सर्वसम्मति से ईसा पूर्व की छठी शताब्दी माना जाता है। उनके जीवनकाल से सम्बन्धित स्थलो बोधगया, काशी, श्रावस्ती तथा वैशाली की पुरातात्विक खुदाइयाँ हो चुकी हैं। इनमे ५-६ शताब्दी ईसा पूर्व तक जाते-जाते सामग्रियो का अभाव होने लगता है। इन स्थलो की प्राचीनता पुरातात्विक उत्खननो के आधार पर ८वी शताब्दी ई० पू० से अधिक नही जाती। पुरातात्विक कालगणना के अनुसार ८वी शताब्दी ई० पू० मे इन स्थलो पर मानव-सचरण प्रारम्भ हुआ। काशी (राजघाट) को उपकाल १-अ मे, जो ८०० ई० पू० से ६०० ई० पू० का मध्यकाल माना गया है, रेड स्लिप्ड वेयर कल्चर कहा गया है, जो उत्खनको के अनुसार अनार्यों की सस्कृति रही होगी। इस कालखण्ड मे एक भी पेन्टेड ग्रे वेयर का टुकडा नही मिला जो विद्वानो के अनुसार परवर्ती आर्यो के सक्रमण से सम्बद्ध किया गया। इसका मिलना १-ब कालखण्ड से प्रारम्भ होता है जो ६०० ई० पू० से ४०० ई० पू० का समय बताया गया है। अर्थात् इसी कालखण्ड मे आर्यो का आगमन इस काशी क्षेत्र मे होता है। यही दशा ऊपर गिनाये गये उन सभी स्थलो की है जो बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित रहे हैं। क्या इसका यह अर्थ लगाया जाए कि बुद्ध की कथा और उनका धर्मचक्र प्रवर्तन काल्पनिक कथाये है ? क्या यह समझा जाए कि बुद्ध अनार्य थे और उन्होने अपने उपदेश अनार्यों के बीच दिए ? क्या ये क्षेत्र बुद्ध के जीवनकाल मे या उनके कुछ-ही समय पूर्व आर्य सस्कृति के सम्पर्क मे आये थे ?

इस क्षेत्र के सम्बन्ध मे बौद्ध साहित्य से जो चित्र उभरता है, वह इससे सर्वथा भिन्न है। षोडस महाजनपदो मे सम्पूर्ण उत्तरभारत का क्षेत्र आ जाता है। बुद्ध ज्ञानप्राप्ति के लिये महाभिनिष्क्रमण करते है तो पूर्व की ओर जाते है। यदि पुरातत्वज्ञो एव आधुनिक इतिहासकारो (जिनमे यूरोपीय एव भारतीय इतिहासकार दोनो ही शामिल हैं) के अनुसार इस तथाकथित आर्य सभ्यता का

गुरुत्व केन्द्र पश्चिमी क्षेत्र में था तो बुद्ध को उस दिशा में आना चाहिये था। उन्होने जिन गुरुओ से सम्पर्क किया और फिर उनसे मिलकर आगे बढे, वे अपने समय के परम्परागत भारतीय ज्ञान एव विद्या के महान जानकार थे। बोधगया मे बुद्धत्वप्राप्ति के पश्चात अपने धर्मचक्र प्रवर्तन के लिये उन्होने काशी को चुना। उनके पूर्व के पाँच शिष्य, जो पहले उन्हे छोडकर चले आये थे, वे भी काशी मे गये थे, इस प्रकार कम से कम छठी शताब्दी ईसा पूर्व मे काशी की ख्याति अवश्य रही होगी। और इसके लिये उसकी स्थापना कई शताब्दियो पूर्व होनी चाहिये जिसके लिये पुरातात्विक कालक्रम मे कोई स्थान नही है। बौद्ध साहित्य यह बताता है कि उस समय उत्तरभारत के बडे-बडे नगर तक्षशिला, मथुरा, साकेत, श्रावस्ती, काशी, राजगृह आदि व्यापार-मार्गों से जुडे हुये थे और सार्थवाह व्यापार-सामग्रियो के साथ नियमित यात्राये करते थे। यह व्यापार प्रक्रिया भी काफी सश्लिष्ट थी जिसके विकास के लिये अनेक शताब्दियाँ अपेक्षित हैं। भारतीय इतिहासज्ञ एव पुरातत्वविद भी छठी शताब्दी ईसा पूर्व के काशी, कौशल, मगध के राजवशो की पौराणिक सूची को कमोबेश मानते ही हैं। ये सभी बातें इस बात की ओर ही इगित करती है कि इस क्षेत्र का इतिहास एव सस्कृति ८वी शताब्दी ईसा पूर्व जितनी नही, उससे भी अनेक शताब्दियो पुरानी है। एक और बात ध्यान देने की है—ऐतिहासिक युग मे तो यवन, कुषाण, तुर्क, पठान, मुगल आदि आक्रमणकारी लाहौर से राजमहल की पहाडियो (बिहार) तक पहुँचने मे ६ मास से एक वर्ष लगाते थे और इस अवधि मे सम्पूर्ण उत्तरभारत पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लेते थे किन्तु आर्यों को सिन्धु घाटी से गगा की घाटी एव काशी, मगध, आदि पहुँचने मे अनेक शताब्दियो के अन्तराल की बात की जाती है। क्या छठी शताब्दी ई० पू० के पहले की शताब्दियों मे उत्तरीभारत इतने अभेद्य वनो एवं प्राकृतिक बाधाओ से युक्त था कि इस कल्पित आर्य सस्कृति के प्रसार के कार्य मे अनेक शताब्दियाँ लग गई ? पुरातत्वविदो को इस दृष्टिकोण से भी विचार करना होगा तथा इन बिन्दुओ का उत्तर ढूढना होगा तभी भारतीय इतिहास मे पुरातत्व को उचित महत्व मिल पायेगा।

आर्यों के मूलस्थान निर्धारण की दृष्टि से विगत शताब्दी के उत्तरार्ध मे इतनी अधिक परिचर्चायें हुई कि भारतीय इतिहास अध्ययन की दृष्टि से यदि उस कालखण्ड को 'आर्य स्थापना काल' कहे तो अधिक उपयुक्त होगा। इस परिचर्चा का परिणाम यह निकला कि भारत के अतिरिक्त समस्त एशिया और यूरोप मे आर्यों का मूलनिवास स्थल खोजा गया और सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये। सूची बहुत लम्बी है और सुधी विद्वानगण उसके विषय मे जानते है, अत उसको यहाँ दुहराने का प्रयास नही किया जायेगा। यहाँ हम केवल भारत की

दृष्टि से ही विचार करेंगे और यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि हमारा प्राचीन साहित्य इस विषय मे क्या कहता है और कुछ नवीन पुरातात्विक अनुसधान क्या सकेत कर रहे है।

इस बात को तो अनेक विद्वानो ने स्वीकार किया है कि वैदिक एव परवर्ती भारतीय साहित्य मे कही भी ऐसा कोई सकेत नही मिलता जिससे यह कहा जा सके कि प्राचीन भारतीय किसी अन्य स्थान से भारत मे आये। मानव सभ्यता के आदिम काल से ही वे इसी भारत भूमि पर रहते आये हैं, यही सकेत प्राचीन भारतीय साहित्य देते है। पौराणिक साहित्य मे गुफा-निवास से लेकर फल सग्राहक, कृषि के विभिन्न स्तरो से होते हुए नागर सभ्यता के उच्चतम उत्कर्ष को प्राप्त करने तक के उल्लेख प्राप्त होते है। अत्यन्त सुदीर्घ काल के प्रयोगो और अनुभवो के आधार पर ही भारतीय मानस, काल की चक्रीय व्यवस्था की परिकल्पना कर सका जिसमे व्यक्तियों एव समाजो के जीवन में उत्थान एव पतन, उत्कर्ष एव अपकर्ष के इतिहास को बार-बार दोहराये जाने की बात कही गई। मिश्र, बेबीलोन, मेसोपोटामिया आदि प्राचीन सभ्यताओ के प्रकाश मे आने से इस परिकल्पना की सत्यता सिद्ध हो रही है और मानव-विकास की एकरेखीय परिकल्पना पर विश्वास करने वाले इतिहासज्ञो ने भी अब इस ओर विचार करना प्रारम्भ कर दिया है। कहने का तात्पर्य यह है कि मानव विकास की सम्पूर्ण कथा हमारे प्राचीन साहित्य मे सुरक्षित है जिसे इस दृष्टि से देखना होगा। इस भारत भूमि के सहस्राब्दियो के भौगोलिक परिवर्तनो के भी हम दृष्टा एव साक्षी रहे हैं, यह भी हमारा साहित्य हमे बताता है। विन्ध्य पर्वत किस प्रकार झुका और हिमालय किस प्रकार अस्तित्व में आया ? गगा किस प्रकार पर्वत मे से निकल कर मैदानो मे लाई गई, सरस्वती किस प्रकार विलुप्त हो गई तथा मरुस्थलो का निर्माण किस प्रकार हुआ ? इन कार्यों मे हमारे पूर्वजो का कितना योगदान रहा, इसकी तो स्मृति है। हमारे साहित्य मे इसका वृत्त तो अकित है किन्तु बाहर से आने का कोई उल्लेख नही है।

भारत-भूमि मानव-जन्मभूमि और उनके प्रारम्भिक क्रिया-कलापो की आदिभूमि क्यो नही हो सकती यह हमारी समझ मे नही आता। ससार की जितनी प्राचीन सभ्यताये पुष्पित-पल्लवित हुई, वे सब नदियो की घाटियो मे हुई बताई जाती हैं। फिर गगा, यमुना और सिन्धु की घाटियाँ इस दृष्टि से वन्ध्या क्यो मानी जाती हैं, यह बात समझ मे नही आती। क्यो यह क्षेत्र आठवी-छठी शताब्दी ई०पू० तक जगल प्रदेश बना रहा और काल्पनिक आर्यों की प्रतीक्षा करता रहा जिन्होने इसे कथित रूप मे अब से तीन हजार वर्ष पूर्व आकर रहने योग्य बनाया। क्या विन्ध्य को पर्वतश्रेणियाँ इस योग्य नही थी

कि वे आदिम मानव को अपनी गुहाओ में स्थान देकर, उसकी गतिविधियाँ जारी रखने के लिये, उचित वातावरण एव जल-भोजन की सुविधा दे सकें ? क्या गगा-यमुना-सरस्वती की सुविस्तृत एवं उपजाऊ घाटियाँ मानवसभ्यता के विकास के लिये उचित सरक्षण एव सुविधाये नहीं जुटा सकती थी ? यदि ऐसा है तो आर्यों की आदिभूमि जन्मभूमि पितृ-भूमि क्यो नही बन सकती , यह सम्पूर्ण आर्यावर्त ही आर्यो का मूलस्थान क्यो नही बन सकता ?

मनु ने इस क्षेत्र का वर्णन किया है (२।१७-२४) । वे पहले सरस्वती और दृषद्वती की उपत्यका ब्रह्मावर्त का वर्णन करते हैं । इसके बाद कुरुक्षेत्र, मत्स्य पन्चाल एव शूरसेन को ब्रह्मर्षि देश कहते है । फिर हिमालय और मध्य की भूमि, जो विनशन एव प्रयाग के बीच मे पडती है, मध्य देश कहते है । स्पष्ट है कि भौगोलिक दृष्टि से ब्रह्मावर्त और ब्रह्मर्षि देश मध्य प्रदेश के अन्तर्गत आ जाते हैं । इसके बाद आर्यावर्त की सीमा बताते है जो भौगोलिक दृष्टि से इससे भी अधिक व्याप्ति वाली है । पूर्व एव पश्चिम से समुद्र से घिरी हुई एव उत्तर एव दक्षिण से (हिमालय एव विन्ध्य) पर्वतो के बीच की भूमि को उन्होने आर्यावर्त कहा है । इस परिभाषा मे सम्पूर्ण उत्तरभारत आ गया और यह परिभाषा कुछ बाद की लगती है । पातजली महाभाष्य की परिभाषा (६।३।१०९) इससे प्राचीन लगती है, जिसका समर्थन कई अन्य धर्मसूत्र एव स्मृतियाँ करती है । महाभाष्य के अनुसार दर्शन से पूर्व कालक वन से पश्चिम, हिमालय से दक्षिण एव पारियात्र से उत्तर की भूमि आर्यावर्त है । कुछ स्मृतियो में दर्शन की जगह विनशन बौद्धायन (१।२७) और पारियात्र की जगह विन्ध्य (वशिष्ट (१।७) आता है। किन्तु इससे कोई अन्तर नही पडता क्योकि क्षेत्र लगभग वही है । गगा-यमुना की घाटी को मध्यप्रदेश कहा गया है जो भौगोलिक दृष्टि से लगभग सम्पूर्ण आर्यावर्त की परिव्याप्ति कर लेता है । इस प्रकार यही भूमि प्राचीन भारतीय वैदिक सस्कृति का मूलस्थान रहा है, इसमे सन्देह नही है ।

ऋग्वेद मे (१०।७५।५-६) नदियो के नाम आते हैं जिनमे गगा, यमुना, सरस्वती, शतुद्रि, परुष्णी, अश्विनी, वितस्ता, अर्जीकिया, सिन्धु, कुमन, गोमती, कुम आदि के नाम भौगोलिक क्रम मे उल्लिखित है । ये नदियाँ उत्तर भारत से अफगानिस्तान तक के क्षेत्र की है । इसमे भौगोलिक जानकारी तो मिलती है किन्तु यह सूक्त एक और बात की ओर सकेत करता है । इससे इन नदियो का क्रम गिनाने वाले की अपनी स्थिति की जानकारी भी मिलती है । जिस किसी ने भी इन नदियो का क्रम गिनाया है वह स्वय गगा की उपत्यका मे बैठा इनको गिन रहा होगा, इसकी पुष्टि होती है । यह पुनः मध्यप्रदेश की ओर सकेत करता है जो वेदो एव वैदिक भारतीयो का मूलस्थान था ।

पारसियो का अवेस्ता मे आर्याना-वेइजो को आर्यों का मूलनिवास-स्थान बताया गया है। यह भी कहा गया है कि अत्यधिक ठड बढ जाने के कारण वहाँ से आर्यो का निष्क्रमण हुआ और उन्होने सोलह देश बसाये जिनमे पन्द्रहवाँ देश हप्तहिन्दु है। इस आर्याना-वेइजो और हप्तहिन्दु की खोज पिछली शताब्दी का वाग्विलास बन गया था। किसी ने अजर वाइजान को आर्याना-वेइजो माना और किसी ने उत्तरी ध्रुव को। किन्तु आर्याना-वेइजो के रूप मे नही देखा जहाँ इस समस्या का हल छिपा हुआ है। वैदिक भारतीयो ने इसी क्षेत्र मे अनेक ग्लेशियन युग देखे है और प्रलय भी देखे है। अत ऐसे कठिन समयो मे कुछ लोगो का निष्क्रमण असम्भव नही है। ईरान मे अनेरहवेंती और हरयू नदी के नामकरण भारतीयो के पश्चिमाभिनिष्क्रमण के अवशेष माने जा सकते है क्योकि दक्षिण-पूर्व एशिया के देशो मे भारतीय नदियो एव नगरो के नाम मिलते है। ईराक के राजा 'यिमख्शरत' की पहचान यम वैवस्वत से की जा सकती है, जो मनु वैवस्वत (विवस्वान के पुत्र) के भाई थे। प्रलय के पश्चात् मनु ने भारत मे सन्ततिविस्तार किया और यम ने ईरान-ईराक क्षेत्र मे। इस सक्षिप्त लेख मे इस विषय पर विस्तार मे जाने का अवसर नही है किन्तु यह बता देना विषय के अनुकूल होगा कि जिस प्रकार वर्तमान युग मे अग्रेजी साम्राज्य के विस्तारकाल मे, ससार के अनेक क्षेत्रो मे उपनगरो-स्थानो आदि के नाम अग्रेजी भाषा के आधार पर पडे, उसी प्रकार भारतीय नामो की छाप ससार के अनेक देशो, नगरो, पर्वतो, नदियो पर मिलती है तथा भाषाओ पर भी इनकी छाप पडी है, जो भारतीयो के विदेश निष्क्रमण के चिन्हरूप मे अभी भी दिखाई पडती है। इसी तथ्य ने तुलनात्मक भाषाशास्त्र को जन्म दिया और इन्डो-यूरोपीय भाषा परिवार की कल्पना की गई तथा विभिन्न भाषाशास्त्री सिद्धान्त स्थिर किये गये। ऐसे सिद्धान्तो के प्रतिपादको को डा० सत्यकाम वर्मा की (वैदिक स्टडीज पुस्तक, पृ० १४५) चेतावनी का हम स्मरण दिलाना चाहेगे कि भाषाशास्त्रियो को अपने विचार (क्लू) इतिहास से ग्रहण करना चाहिये, न कि इसके विपरीत। अर्थात् भाषाशास्त्र के आधार पर इतिहास के सूत्रो के निर्धारण का प्रयास यदि किया जायेगा तो आर्य समस्या जैसी काल्पनिक समस्याये खडी हो जायेगी जिनके निवारण मे शताब्दियाँ लग सकती है।

यहाँ 'हप्तहिन्दु' के विषय मे भी कुछ विचार कर लेना चाहिये। सप्त-सिन्धु के उल्लेख यजुर्वेद (३८।६) एव अथर्ववेद (४।६।२) मे भी आते है और अविनाशचन्द्र दास का नाम सप्त-सिन्धु के साथ अमर हो गया है। किन्तु समस्त वैदिक एव परवर्ती भारतीय साहित्य मे आर्यो (?) के मूलस्थान के विषय मे स्पष्ट जानकारी होते हुये, सप्त-सिन्धु के अस्पष्ट एव सक्षिप्त उल्लेख को लेकर आर्यो का मूलस्थान खोजना अत्यन्त हास्यास्पद है। वैदिक साहित्य और अवेस्ता मे कही भी सप्तसिन्धु को आर्यो का मूलस्थान नही कहा गया है। अवेस्ता मे तो

हप्तहिन्दु को पन्द्रहवाँ देश कहा गया है तो उसे मूलस्थान मानने का आग्रह क्यो किया जा रहा है। सप्तसिन्धु वैदिक साहित्य मे किसी देश का नाम है, यह भी स्पष्ट नही है। यदि है तो उसकी पहचान भी नही की जा सकती। यह ७ नदियो का प्रदेश है (जैसा कि कुछ लोगो ने प्रयास किया है) अथवा सात समुद्रो का, यह शब्द स्पष्ट नही है। अत. निश्चित को छोडकर अनिश्चित के विषय मे विचार करने से बौद्धिक व्यायाम तो होता है किन्तु कुछ परिणाम नही निकलता।

अत: निष्कर्षत. यही कहना पडेगा कि आर्य समस्या कोई नही है। आर्य नाम की कोई जाति नही है। यह कृत्रिम समस्या, अज्ञान, निहित स्वार्थ और आधे-अधूरे शोधकार्यो पर आधारित है। तुलनात्मक भाषाविज्ञान का जो भवन खडा किया गया है उसके नीव की ईंट भ्रान्तिपूर्ण अवधारणाओ के आधार पर खडी की गई है, अत. इसमे आधारभूत चिन्तन की आवश्यकता है। हम भारतीयो ने भी जो कुछ शोधकार्य किया है वह इस झूठ की आँधी के आवर्त मे फस गया था। अब समय आ गया है कि हम इसे पहचाने और इसका पूरी शक्ति के साथ, सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय का मन्थन करके निकाले गये तथ्यो के साथ इस भ्रान्त धारणा को धराशायी कर दे। आर्य और द्रविड के काल्पनिक विभेदकारी अप्रचार का मुंहतोड उत्तर देते हुये विष्णुपुराण (२।३।१) के इस घोष का उद्घोष करे.

उत्तर यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चापि दक्षिणम्।
वर्षं तद भारत नाम भारती यत्र सततिः॥

भारतीय महाकाव्य एवं पुरातत्व

—सूर्यकान्त श्रीवास्तव
क्यूरेटर, संग्रहालय
गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

सिन्धु सभ्यता की खोज ने भारतीय इतिहास को प्राचीनता ही नही, वरन् लगभग १००० वर्ष का अन्तराल भी दिया, जिसके सम्बन्ध मे पुराविदो के लिये निर्णायक रूप से कुछ भी कहना कठिन था। अतएव विभिन्न विश्वविद्यालयो एव भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग द्वारा विभिन्न स्थानो पर सर्वेक्षण एवं उत्खनन कार्य किया गया। किन्तु उपलब्ध सामग्री से इस अन्तराल की खाई को पाटकर कोई सेतु नही बनाया जा सका। दक्षिणी-पठार एव पूर्वी-राजस्थान मे कुछ ग्रामीण-सभ्यताओ का पता चला लेकिन वे क्षेत्रीय-विस्तार मे इतनी सीमित हैं कि इस अन्तराल को पाटने मे असमर्थ रही हैं।

कुछ विद्वानो के मतानुसार साहित्यिक प्रमाण एवं परम्परागत कथाओ के आधार पर भारत (उप महाद्वीप) मे आर्यों का आगमन, पजाब मे निवास तथा गगा की ऊपरी घाटियो मे विस्तार इसी काल मे माना गया है।

प्राचीन भारतीय साहित्य मे वेद-ग्रन्थो के पश्चात् जिन ग्रन्थो को धर्म एव जन-साधारण में मान्यता प्राप्त है, वह हैं प्रमुख बहुचर्चित महाकाव्य—रामायण एव महाभारत। दोनो महाकाव्यो की कार्य-स्थली उत्तर-भारत मे गंगा-यमुना का दोआब क्षेत्र रहा है। इसमे कोई सन्देह नही कि दोनो महाकाव्यो की विषय-वस्तु आर्य सभ्यता के विस्तार एव उसे स्थायित्व प्रदान करने का क्रमिक विकास है। अतएव दोनो महाकाव्यो के पुरातात्विक अवशेषो के अध्ययन पर ध्यान दिया जाना आवश्यक है।

रामायण की विषय-वस्तु मे प्राय. सम्पूर्ण भारत का उल्लेख है लेकिन इसका कार्यक्षेत्र मुख्यत. गगा का पूर्वी भाग—अयोध्या नगर, नगर से दक्षिण-पूर्व का भाग एव दक्षिण रहा है। वस्तुत रामायण की विषय-वस्तु पूर्वी-भारत मे ही घटित हुयी। जहाँ तक 'महाभारत' का प्रश्न है निस्सन्देह इसका कार्य-क्षेत्र गंगा के पश्चिम का प्रदेश रहा। महाभारत की कहानी इन्द्रप्रस्थ-कुरुक्षेत्र

एव मथुरा के त्रिकोण में सीमित रही। सम्भवत: दोनो कथाओ के घटनाक्रम मे अन्तराल अधिक नही रहा हो। कुछ पुराविद एव इतिहासकार इन दोनों महाकाव्यो की विषय-वस्तु को ही अन्धयुग का पर्याय मानते है, लेकिन विश्वासपूर्वक कहने के लिये गहन अध्ययन की आवश्यकता को बल मिला।

दोनो महा-काव्यो के रचनाकाल एवम् ऐतिहासिकता को लेकर विद्वानो मे मतान्तर है, लेकिन इस बात से सभी सहमत है कि रचनाकाल कुछ भी हो, पर दोनो ही ग्रन्थ समकालीन नही है। यह भी स्वीकारते है कि इनका वर्तमान लिखितरूप ईसा की तृतीय या चतुर्थ शताब्दी का है। इसमे कोई सन्देह नही कि वर्तमान मे उपलब्ध कथा मे प्रक्षिप्ताशो का समावेश मिलता है।

प्रचलित मतानुसार रामायण का काल, महाभारत के काल से पूर्व का माना गया है। कुछ अपवादो को छोडकर, दोनो ग्रन्थो की विषय-वस्तु इसकी पुष्टि करती है। उदाहरण के लिये, रामायण के कथा-क्रम मे महाभारण काल के किसी भी पात्र या घटना का उल्लेख नही मिलता है। अपवादस्वरूप अयोध्या-काण्ड, सर्ग ६८, श्लोक १३ मे हस्तिनापुर का उल्लेख मिलता है। उल्लेख तो 'अर्जुन' शब्द का भी मिलता है, लेकिन वृक्ष की सज्ञा मे। महाभारत के कथा-क्रम मे रामायणकालीन पात्रो एव घटनाओ का उल्लेख कई स्थानो पर हुआ है। यहाँ तक कि रामायण के रचयिता बाल्मीकि का भी उल्लेख मिलता है। इसमे यह स्पष्ट है कि महाभारत को वर्तमान स्वरूप बाल्मीकि रामायण की रचना के पश्चात् ही प्राप्त हुआ है।

साहित्यिक सन्दर्भ मे रामायण की विषयवस्तु से सम्बन्धित कथा का उल्लेख वेदो मे नही मिलता है। अपवादस्वरूप कुछ पात्रो के उल्लेख अवश्य मिलते है। यथा—इच्छवाकु (ऋग्वेद—१ १२६ ४) एव (अ० वे० XIV ३९ ९), राम (ऋग्वेद X ९३), जनक-विदेह (तै०ब्रा० III १० ९, शतपथ ब्रा० ३ १ २/४) लेकिन राम कथानक के सन्दर्भ मे नही। जहाँ तक पौराणिक साहित्य का प्रश्न है, इसमे रामकथा का उल्लेख ही नही बल्कि वशावलि भी मिलती है। साथ ही कुछ ऐसे उल्लेख भी है जो रामायण एव महाभारत के पात्रो के समकालीन होने की ओर इगित करते है, यथा—ऐतरेय ब्राह्मण (४ २७ ३४) मे राम मार्गवेय और जन्मेजय के समकालीन होने का आभास, छान्दोग्य उपनिषद् (५ ११ ४) मे अश्वपति व कैकय का उल्लेख तथा बृहदारण्यक उपनिषद् मे जनक और याज्ञवल्क्य के समकालीन होने का उल्लेख मिलता है। एक अन्य सन्दर्भ मे राजा जनक के दरबार मे दार्शनिक परिचर्चा मे उल्लेख है कि "भुज्यु लाह्यायिनी द्वारा उद्दालक आरुणी से राजा परीक्षित के वशजो के बारे मे प्रश्न करना—

"क्त पारिक्षिता अभवन" अर्थात् परीक्षित के वशज कहाँ गये ? इनसे ऐसा प्रतीत होता है कि महाभारतकाल की घटनाये रामायणकाल के पूर्व की है।

ईसापूर्व पांचवी शताब्दी के विद्वान 'पाणिनि' ने अपने ग्रन्थ **'अष्टाध्यायी'** मे कुरु जनपद (४-१-१७२, ६-१-१०१) एवम् हस्तिनापुर (४-२-१०१) का उल्लेख किया है। भागवत धर्म के सन्दर्भ मे वासुदेव कृष्ण की भक्ति--"वासुदेवजुर्यनाभ्या बुन् (४-३-१८) का भी उल्लेख किया है। (पाणिनि के समय मे कृष्ण-वासुदेव को भक्ति के विकास को प्राचीन एव अर्वाचीन सभी विद्वान स्वीकार करते है)। अष्टाध्यायी मे कौशल जनपद (४-१-१७१), सरयु नदी व राजा इच्छ्वाकु (६-४-१७४) का उल्लेख मिलता है लेकिन राम-कथानक के विषय मे अष्टाध्यायी मौन है। ऐसा प्रतीत होता है कि पाणिनिकाल मे राम-कथानक को जनसामान्य मे वह स्थान प्राप्त नही था।

भाषा के दृष्टिकोण से बाल्मीकीय रामायण मे कुछ अश वेद-भाषा के अधिक निकट और पाणिनि के व्याकरणसम्मत प्रयोग से दूर है। साथ ही सामाजिक, सास्कृतिक, धार्मिक, राजनैतिक एव नैतिक आधार पर रामायण-काल महाभारतकाल से भिन्न प्रतीत होता है।

अधिकाशत विद्वानो का तर्क है कि क्या वास्तव मे महाकाव्यो का कोई कालविशेष था ? अतएव भारतीय पुरा-साहित्य मे इनकी सार्थकता की पुष्टि करने के प्रयास मे, आज से लगभग ३५ वर्ष पूर्व प्रो ब्रजवासी लाल, भूतपूर्व महा-निदेशक, पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग, सम्प्रति अधिष्ठाता, भारतीय उच्च अध्ययन सस्थान शिमला, ने गगा घाटी एव सतलुज की ऊपरी खातो का विस्तृत सर्वेक्षण कर, उत्तर-प्रदेश के मेरठ जिले मे हस्तिनापुर मे उत्खनन किया। हस्तिनापुर उत्खनन के निम्न स्तरो से प्राप्त चित्रित धूसर मृदभाण्डो वाली विशिष्ट सस्कृति के अवशेष मिले है। यह अवशेष महाभारत ग्रन्थ मे वर्णित सभी स्थानो से प्राप्त होते है। हस्तिनापुर के अतिरिक्त कुरुक्षेत्र, मथुरा, इन्द्रप्रस्थ, अहिच्छत्रा, अतरजीखेडा एव कौशाम्बी आदि के उत्खनन से इस सस्कृति के अवशेष मिले है। इसका काल ईसापूर्व १००० वर्ष के लगभग (८००-१२०० वर्ष ईसा पूर्व) माना गया है। उपरोक्त साक्ष्य के आधार पर चित्रित धूसर मृदभाण्ड वाली सस्कृति को महाभारतकालीन सस्कृति माना गया है।

महाभारत के सम्बन्ध मे हुये पुरातात्विक कार्य के परिणामो से उत्साहित होकर रामायणकालीन पुरातत्व के अध्ययन पर भी ध्यान दिया गया। फल-

स्वरूप सन् १९७५ मे राम-कथानक सम्बन्धी स्थलो का पुरातात्विक सर्वेक्षण नई दिल्ली पुरातत्व विभाग, उत्तर-प्रदेश एव जीवाजी विश्वविद्यालय के सयुक्त तत्वावधान मे प्रोफेसर ब्रजवासी लाल, तत्कालीन वरिष्ठ प्राध्यापक, प्राचीन भारतीय इतिहास, सस्कृति एव पुरातत्व अध्ययनशाला, जीवाजी विश्वविद्यालय ग्वालियर के निर्देशन मे प्रारम्भ किया गया।

रामायणसम्बन्धी स्थलो के पुरातात्विक अध्ययन का शुभारम्भ अयोध्या नगर मे ३१ मार्च १९७५ को तत्कालीन केन्द्रीय शिक्षामन्त्री प्रो० सैयद नरुल हसन, सम्प्रति सोवियत रूस मे भारतीय राजदूत, के द्वारा सम्पन्न हुआ। इस अध्ययन परियोजना के अन्तर्गत हुये उत्खनन से प्राप्त सामग्री पर समय-समय पर देश एव विदेश के शोध-पत्रो एव अन्य पत्रो मे लेख प्रकाशित होते रहे है। यथा —धर्मयुग, पुरातत्व, मैन एण्ड इनवायरनमेन्ट, इलस्ट्रेटेड लण्डन न्यूज (लन्दन से प्रकाशित) आदि।

बाल्मीकि रामायण मे वर्णित राम के वनगमन के समय अपनाये गये मार्ग को सर्वेक्षण के लिये प्राथमिकता दी गयी। अयोध्या से चित्रकूट तक के मार्ग मे आये प्रमुख स्थान शृङ्गवेरपुर एव भारद्वाज आश्रम पर उत्खनन कार्य किया गया। इन स्थानो के अतिरिक्त नन्दी ग्राम, जहाँ राम के वनवास के समय भरत ने आश्रम बनाकर प्रतीक्षा की थी, बिठूर, जहाँ बाल्मीकि का आश्रम था, परिहर (वर्तमान मे परियर) जहाँ सीता का परित्याग किया गया था, का भी सर्वेक्षण किया गया तथा नन्दी ग्राम एव परिहर पर उत्खनन कार्य भी।

अयोध्या नगर राम के जन्मस्थान के रूप मे प्रसिद्ध है। यहाँ परियोजना के अन्तर्गत लगभग चौदह स्थानो पर उत्खनन खाइयाँ उत्खनित की गयी। परिणामत जो सास्कृतिक वसावक्रम मिला वह इतना उत्साहवधक सिद्ध नही हुआ, जैसी कि आशा था। अयोध्या के निम्न स्तरो से जिस सस्कृति के अवशेष मिलते है वह उत्तरी कृष्णमार्जित मृदभाण्ड (उत्तरी काले ओपदार मृदभाण्ड – Northern Black Polished Ware)। यह सस्कृति कालक्रम मे चित्रित धूसर मृदभाण्ड वाली सस्कृति के पश्चात की सस्कृति है। इसका प्रचलन ईसा पूर्व छठवी शताब्दी मे जनपदकाल मे चरम सीमा पर था। यह काल बौद्धधर्म के प्रवर्तक महात्मा बुद्ध का काल था। उत्तरी कृष्णमार्जित सस्कृति का उद्भव महात्मा बुद्ध के लगभग १०० या १५० वर्ष पूव हुआ होगा, तभी इस काल मे चरम सीमा को प्राप्त हुयी होगी। चित्रित धूसर मृदभाण्ड के प्रकार तथा उक्त मृदभाण्डो पर उत्तरी कृष्णमार्जित मृदभाण्डो की पर्णी (Slip) का उपयोग इस तथ्य का द्योतक है कि उत्तरी कृष्णमार्जित मृदभाण्डो का उद्भव एव विकास चित्रित धूसर मृदभाण्ड (Painted Grey Ware) वाली सस्कृति से हुआ है। जैसा

कि पूर्व मे कहा जा चुका है कि चित्रित धूसर मृदभाण्ड वाली सस्कृति का काल ईसा पूर्व लगभग ११०० वर्ष माना गया है। प्रोफेसर लाल के अनुसार यह लगभग ईसा पूर्व ९०० वर्ष तक प्रचलित रही। इस कालक्रम के आधार पर उत्तरी कृष्ण-मार्जित मृदभाण्ड वाली सस्कृति के उद्भव एव विकास मे लगभग १५० से १०० वर्ष का समय लग गया होगा। अयोध्या के निम्नस्तरो की सस्कृति निश्चित रूप से इस काल की है, जबकि चित्रित धूसर मृदभाण्ड वाली सस्कृति अपना वर्चस्व खो चुकी थी और नयी उत्तरी कृष्णमार्जित मृदभाण्ड वाली सस्कृति पनप रही थी। स्तरीय कालक्रम मे इस सक्रमणिक संस्कृति का काल लगभग ईसा-पूर्व आठवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे माना जा सकता है। यही काल है अयोध्या के प्रथम मानव-बसावक्रम का।

अयोध्या मे प्राप्त स्तरीय कालक्रम को पुष्टि नन्दीग्राम, परिहर, भारद्वाज आश्रम एव श्र गवेरपुर उत्खनन से होती है। उपरोक्त स्थानो मे श्रृगवेरपुर ही एक ऐसा स्थान है जिसके निम्न स्तरों मे उत्तरी कृष्णमार्जित मृदभाण्ड वाली सस्कृति के पूर्व की दो सस्कृतियो के अवशेष प्राप्त हुये है, वह है कृष्णपर्णी मृदभाण्ड (Black Slipped Ware) एव गेरुये रग के मृदभाण्ड (Ochre Coloured Ware) वाली सस्कृतियाँ। बिठूर एव चित्रकूट मे उत्खनन कार्य नही हुआ है, लेकिन सर्वेक्षण मे प्राचीनतम सास्कृतिक अवशेषो मे कृष्णमार्जित मृदभाण्ड वाली सस्कृति के मृद्पात्र मिलते है। लक्ष्मणटीला एव मिथला से प्राप्त साक्ष्य भी इसी कालक्रम के अनुरूप है।

दोनो महाकाव्यो की विषयवस्तु मे वर्णित भौगोलिक स्थिति के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि दशरथपुत्र राम की कार्यस्थली गगा के पूर्वीप्रदेश मे अयोध्या, प्रयाग एव प्रयाग से गगा के दक्षिण एव दक्षिणी पठार रहा है। महाभारत के कृष्ण का क्षेत्र गगा के पश्चिमी भू-भाग मे हस्तिनापुर, मथुरा, कुरुक्षेत्र एव द्वारका तक फैला हुआ है।

राजनैतिक पृष्ठभूमि मे महाभारत की विषयवस्तु आर्य राजाओ के उत्तराधिकार का युद्ध है, तो रामायण की कथा गगा के दक्षिण मे आर्य सस्कृति के प्रसार का द्योतक है। निसन्देह रामायण धार्मिक-सामाजिक स्थिति मे आर्य सस्कृति के मापदण्डो का प्रतिष्ठापन है, जबकि महाभारत मे तत्कालीन विकृतियो का वर्णन भी समाहित है। नैतिक दृष्टि से भी राम को मर्यादा पुरुषोत्तम कहा गया है, जबकि कृष्ण के द्वारा मर्यादाओ का उल्लघन भी बताया गया है।

दोनो ग्रन्थो के उपरोक्त अध्ययन से यह तो स्पष्ट है कि महाभारत का काल रामायणकाल के पश्चात् का है। दोनो के मध्य कितना अन्तराल था, यह

कहना असम्भव तो नही, लेकिन दुष्कर अवश्य है। पुरातात्विक साक्ष्यो के आधार पर दोनो महाकाव्यो का काल ईसापूर्व आठवी शताब्दी से लेकर बारहवी शताब्दी के मध्य का है। सम्भवत. दोनो मे अधिक अन्तराल न हो। यह भी दृष्टिगत रखना है कि भौगोलिक स्थिति मे जहाँ राम के नेतृत्व मे पूर्वी भारत और दक्षिण मे आर्य संस्कृति का प्रसार हो रहा था, वहाँ आर्यावर्त मे उत्तराधिकार के लिये युद्ध। जो भी हो, इतना स्पष्ट है कि भारतीय पौराणिक साहित्य एव पुरातात्विक साक्ष्यो मे अभी तक समन्वय नही हो पाया है। भविष्य के प्रति आशावान होना चाहिए और पुरातात्विक विस्तृत सर्वेक्षण को प्रोत्साहन मिलना चाहिये, ताकि भारतीय पौराणिक साहित्य की गरिमा कुण्ठित न हो।

प्राचीन भारतीय शिक्षा के उद्देश्यों की दार्शनिक पीठिका

—**डा० जयशंकर मिश्र**, रीडर
इतिहास विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्राचीन भारतीय समाज मे शिक्षा का स्वरूप अत्यन्त ज्ञानपरक, सुव्यवस्थित और सुनियोजित था, जिसमे व्यक्ति के लौकिक और पारलौकिक जीवन के उत्थान के लिये विभिन्न प्रकार की शिक्षा प्रदान की जाती थी। भौतिक और आध्यात्मिक जीवननिर्माण तथा विभिन्न उत्तरदायित्वो को निष्पन्न करने के लिये शिक्षा की नितान्त आवश्यकता थी। वस्तुतः मनुष्य और समाज का आध्यात्मिक और बौद्धिक उत्कर्ष शिक्षा के ही माध्यम से सम्भव माना जाता रहा है। शिक्षा से मनुष्य का जीवन सम्पन्न, परिष्कृत और समुन्नत ही नही होता, बल्कि समाज भी सात्विक और नैतिक निर्देशो का पालन करता हुआ, सन्मार्ग पर चलकर विकसित होता है। मनुष्य का जीवन, शिक्षा और ज्ञान से ही धर्मप्रवण, नैतिक मूल्यो से युक्त, उच्च आदर्शों से सबलित और बहुमुखी व्यक्तित्व से युक्त होता है। विद्यार्जन से व्यक्ति आत्मनिर्भरता तो प्राप्त करता ही है, साथ ही परिवार और समाज के निर्माण मे योग प्रदान करता है। मनुष्य की धार्मिक वृत्तियो का उत्थान, उसके चरित्र का उत्थान, उसके व्यक्तित्व का उत्थान, उसके सामाजिक उत्तरदायित्वो का निष्पादन और उसके सास्कृतिक जीवन का उत्थान शिक्षा के प्रधान उद्देश्य हैं। शिक्षा के माध्यम से मनुष्य अपने इन्ही उद्देश्यो की पूर्ति मे लगा रहता है। अथर्ववेद मे विद्या अथवा शिक्षा के उद्देश्य और उसके परिणाम का उल्लेख किया गया है, जिसमे श्रद्धा, मेधा, प्रज्ञा, धन, आयु और अमृतत्व को सन्निहित किया गया है।[1] यहाँ हम प्राचीन भारतीय शिक्षा के उद्देश्यो की दार्शनिक पीठिका का विश्लेषण कर रहे है।

(१) मनुष्य की धार्मिक वृत्तियों का उत्थान :—

मनुष्य के जोवन मे धार्मिक वृत्तियो का उदात्त और गरिमामय स्थान है, जिससे मनुष्य का जीवन भक्ति-प्रवण और धर्म-प्रवण होता है। इस प्रकार को

भावना भारतीय समाज में प्राचीन काल से रही है। विद्यार्थियो के जीवन मे भक्ति, धर्म, शुद्धता और पवित्रता की भावना का आरोपण शिक्षा के माध्यम से होता रहा है। ब्रह्मचारी द्वारा दैनिक क्रिया, सन्ध्योपासना, व्रतों का अनुपालन, धर्मसमन्वित उत्सव आदि का अनुगमन, उसकी धार्मिक वृत्तियो के उत्थान मे योग देते रहे हैं। जीवन के उत्थान और विकास के लिये आत्मविश्वास, आत्मबल और आत्मिक शक्ति की आवश्यकता पड़ती है जो धार्मिक भावना से और सबल होती है। व्रतो के पालन से सयमी मनुष्य को निश्चय ही अपने उस रूढ स्वरूप का भान होता है जो उसके आत्मविश्वास का कारण होता है।[2] गुरुकुल मे रहते हुए, अग्नि-परिचर्या के नैत्यिक नियम का पालन ही ब्रह्मचारी का धार्मिक व्रत था और अनुशासन का एक अग भी।[3] मनु के अनुसार शौच, पवित्रता, आचार, स्नान-क्रिया आदि अग्निकार्य और सध्योपासन ब्रह्मचारी का धर्म था। इसके साथ ही उसे धर्म के पालन मे प्रमाद न करने का निर्देश दिया गया था जिससे उसका धर्मनिष्ठ व्यवहार बना रहे।[4]

गुरुकुल अथवा गुरु के सानिध्य मे रहने वाला ब्रह्मचारी निष्ठापूर्वक धार्मिक निर्देशों का पालन करता था। अगर उसे किसी बात पर शका होती थी, तो गुरु उसका निवारण करता था। तैत्तिरीय उपनिषद् मे ऐसे पृच्छा करने वाले ब्रह्मचारी के लिये कहा गया है, "यदि तुम्हे कभी अपने कर्तव्य अथवा सदाचार के विषय मे सन्देह उपस्थित हो तो जो विचारशील, तपस्वी, कर्त्तव्यपरायण, कोमल स्वभाव के धर्मात्मा-ब्राह्मण-विद्वान् हो, उनकी सेवा मे उपस्थित होकर अपना समाधान करो और उनके आचरण और उपदेश का अनुसरण करो। इसी प्रकार उन व्यक्तियों के प्रति, जिन पर रोष और आरोप किया जाता हो, अपने व्यवहार का ही अनुसरण करना चाहिये।"[5]

सामान्यतः विद्यार्थी के लिये सध्या-वन्दना, पूजा-पाठ, स्नान, सच्चरित्रता आदि धर्म के अन्तर्गत गृहीत किये गये है। सत्यभाषण भी प्रमुख माना गया था और यह कहा गया था कि सत्य बोलने से सभी अधर्मों का क्षय हो जाता है।[6] शिक्षार्थी के विभिन्न नियम धर्ममूलक प्रवृत्तियों के विकास मे सहायक होते थे। इन्ही नियमो के आधार पर विद्यार्थी लौकिक और पारलौकिक जीवन को उदात्त बनाने और विभिन्न उत्तरदायित्वो को सम्पन्न करने मे सक्षम होता था। वह आध्यात्मिक जगत के विषय मे जानने का प्रयास करता था तथा उसके निमित्त सात्विक जीवन को और तपःशील करता था। अतः मनुष्य के जीवन मे तप, दान, आर्जव (सरलता), अहिंसा और सत्यवचन अनिवार्य माने गये।[7] क्योंकि धर्ममूलक प्रवृत्तियाँ इन्ही तत्वो से प्रेरित होती थी तथा व्यक्ति उन पर आचरण करता था।

छांदोग्य उपनिषद् में धर्म के तीन स्कन्ध अथवा आधारस्तम्भ बताये गये हैं। यज्ञ, अध्ययन और दान पहला स्कन्ध है। तप अर्थात् कष्ट-सहिष्णुता ही दूसरा स्कन्ध है। आचार्य-कुल (गुरुकुल) में रहते हुये अपने शरीर को अत्यन्त क्षीण कर देना तीसरा स्कन्ध है। इनका अनुगमन करने वाले पुण्यलोक को प्राप्त करते हैं।[8]

(२) मनुष्य के चरित्र का उत्थान :—

मनुष्य के चरित्र का उत्थान शिक्षा का दूसरा उद्देश्य माना जा सकता है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति नैतिक क्रियाये सम्पन्न करता हुआ सन्मार्ग का अनुसरण करता था। चरित्र और आचरण का इतना बडा महत्व था कि समस्त वेदो का ज्ञाता विद्वान, सच्चरित्रता और सदाचरण के अभाव मे माननीय नही था, किन्तु केवल गायत्री मन्त्र का ज्ञाता पण्डित अपनी सच्चरित्रता के कारण माननीय और पूजनीय था। वस्तुत सच्चरित्रता मनुष्य का भूषण मानी गयी है। आचार-सम्पन्न और चरित्रवान व्यक्ति अभिनन्दनीय था, आचरणहीन और चरित्रहीन व्यक्ति निन्दनीय। सत्कर्मो से ही चरित्र का उत्थान माना गया था। ये सत्कर्म नैतिक मूल्यो से ही सचालित होते थे। शिक्षा-अवधि मे ही मनुष्य के आचरण और चरित्र को उन्नत करने का प्रयास किया जाता था। समाज के अन्य लोगो के साथ उसके सद्व्यवहार की प्रवृत्ति उसके चरित्रोत्थान मे सहायक तत्व थी। सहिष्णुता और सौहार्द्र, सत्यनिष्ठा और नैतिकता तथा सदाचरण और आदर्श, मनुष्य के चरित्रोत्थान के प्रधान कारणभूत तत्व थे। अत: धर्मचरित्र का जिसमे वर्धन था, वही पण्डित था।[9]

शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति अपनी तामसी और पाशविक प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण रखता था तथा सत्-असत् का भेद कर सकने में समर्थ होता था। जब मनुष्य को सत् का पूर्ण ज्ञान हो जाता था और अपने चरित्र एव आचरण को वह तदनुकूल बना लेता था, तब उसके चरित्र का उत्थान प्रारम्भ होता था। विद्यार्थी-काल में ही शिक्षा की यथोचित प्राप्ति होती थी तथा चरित्र को तदनुरूप सघटित करने का अवसर मिलता था। इसलिये चरित्र का विकास और भावी जीवन के विस्तार का वह सर्वोत्तम काल था। अपने इस काल मे शिक्षार्थी विभिन्न नियमो और निर्देशों का पालन सुगमतापूर्वक कर सकता था तथा व्यवहार, सदाचार और शील का अर्थ समझ सकता था।

ब्रह्मचारी का जीवन सत्य, तप और नियम का जीवन था। इसीलिये कहा गया था कि ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने वाला ही तेजोमय ब्रह्म (ज्ञान) को धारण करता था और उसमें समस्त देवता अधिवास करते थे।[10] समिधा और

मेखला द्वारा अपने व्रतों का पालन करते हुए ब्रह्मचारी श्रम और तप के प्रभाव से लोकों को समुन्नत करता था।[11] ब्रह्मचारी का तप और आचरण इतना शक्तिमान था कि सभी उसके सम्मुख नत होते थे। यह माना गया था कि ब्रह्मचर्य के तप से राजा, राष्ट्र की रक्षा मे समर्थ होता है। ब्रह्मचर्य द्वारा ही आचार्य शिष्यों को यथोचित रूप मे शिक्षित करने की योग्यता अपने में सम्पादित कर पाता था।[12] चरित्र और आचरण के उत्थान मे ब्रह्मचर्य का व्रत अनिवार्य था, इसीलिये शिक्षार्थी को ब्रह्मचर्य-व्रती कहा गया था। ज्ञान की प्राप्ति के लिये अनिवार्य रूप से आवश्यक इन्द्रिय-निग्रह और व्रत-पालन का विचार भी प्रारम्भ से ही इसके साथ संयुक्त हो गया था।[13] वस्तुतः चरित्र के उत्थान मे ब्रह्मचर्य का मौलिक अभिप्राय वेद, अथवा दूसरे शब्दो मे ज्ञान को प्राप्त करना था[14], जो शाश्वत और दिव्य था। तप तो ब्रह्मचर्य जीवन का आवश्यक महिमामय अंग ही था।[15]

शौच, पवित्रता, आचार, स्नानक्रिया, अग्निकार्य और सन्ध्योपासन ब्रह्मचारी के चरित्र के आधार-तत्त्व थे, जिससे उसके चरित्र का उत्थान होता था।[16]

(३) **मनुष्य के व्यक्तित्व का उत्थान :—**

शिक्षा और ज्ञान की प्राप्ति से मनुष्य के व्यक्तित्व का उत्कर्ष होता था। विभिन्न प्रकार के निर्देशो, सयमो और नियमो से मनुष्य का जीवन सुव्यवस्थित होता था, जिससे उसके व्यक्तित्व का **विकास** होता था। शिक्षाप्राप्ति से ही व्यक्ति विभिन्न कर्त्तव्यो का पालन कर सकने मे सफल होता था। इससे उसके भीतर आत्मसयम, आत्मचिन्तन, आत्मविश्वास, आत्मविश्लेषण, विवेक-भावना, न्याय-प्रवृत्ति और आध्यात्मिक वृत्ति का उदय होता था।

आत्मविश्वास की भावना से ही व्यक्तित्व का विकास समुचित रूप से होता है। प्राचीन भारत मे यह माना गया कि शिक्षार्थी मे आत्मविश्वास का होना उसके व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास का कारण है। अपने कर्मों और उत्तरदायित्वो को आत्म-विश्वास से ही, सही ढग से निष्पन्न किया जा सकता था। इसीलिये ब्रह्मचारी मे यह आत्मविश्वास जागृत कराया जाता था कि वह भावी जीवन की भयकर कठिनाइयो मे भी स्थिर-मति रह सके। इसी विश्वास के साथ वह गुरु के सानिध्य मे रहकर, विभिन्न नियमो का पालन करता था और अपने अद्भुत साहस का परिचय देता था। भविष्य के सकटमय जीवन को अनुकूल बनाने मे उसका आत्म-विश्वास ही उसका एकमात्र सहायक होता था। शिक्षा प्रारम्भ करने के पूर्व जब उपनयन संस्कार होता था, उसी समय उसका

आत्मविश्वास जगाया जाता था। अग्नि से यह अर्चना की जाती थी कि वह छात्र पर अपनी दयादृष्टि रखे और उसकी बुद्धि, मेधा और शक्ति मे वृद्धि करे।[17] जिससे अग्नि-शिखा की तरह उसकी विद्या और शक्ति-कीर्ति सभी दिशाओ मे प्रसारित हो। अनेक देवताओ के पूजन के साथ उसमे यह भावना दृढ की जाती थी कि ये देवतागण उसकी रक्षा करेगे। ब्रह्मचारी की चोट, रोग और मृत्यु के समय सविता देवता उसकी रक्षा करता था।[18]

ब्रह्मचारी से आत्मसयम की अपेक्षा की जाती थी। आत्मसंयम का अभिप्राय आत्मनियन्त्रण से था। अपने कर्त्तव्यो का पालन करने की दृष्टि से, इन्द्रियो और मन की उच्छृंखल प्रवृत्तियो को नियन्त्रित और व्यवस्थित रखना आत्मसयम था।

इससे व्यक्तित्व का उत्कर्ष स्वाभाविक गति से होता था। गीता में कहा गया है कि सयमयुक्त योग ही दुःखों को दूर करता है, जो यथायोग्य सोनेवाला और जागनेवाला होता है।[19] इस तरह व्रत, नियमित और व्यवस्थित आचरण, आत्मसंयम का महत्वपूर्ण आधार था। इससे विवेक–भावना और न्याय–प्रवृत्ति का उदय होता था, जिससे धार्मिकता और आध्यात्मिकता की अभिवृद्धि होती थी। अतः व्यक्तित्व के उत्थान मे इन सभी तत्वो का सक्रिय योग रहा है।

(४) सामाजिक उत्तरदायित्वों का निष्पादन—

शिक्षित होने के कारण व्यक्ति अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों को निष्ठापूर्वक निष्पन्न करता था। स्नातक के रूप में वह अपने ही हित का ध्यान नही रखता था, अपितु वह साधनहीन-जिज्ञासु विद्यार्थियों को नि.शुल्क विद्या भी प्रदान करता था। वह अपने कर्म करते हुये अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा दृढ रखता था। पुत्र, पति और पिता के रूप मे वह अपने विभिन्न उत्तरदायित्वो को सम्पन्न करता था। विद्यार्थी के समावर्तन समारोह के उपदेश मे उसके लिये तैत्तिरीय उपनिषद् मे इसका स्पष्ट उल्लेख किया गया था, "सत्य बोलना, धर्म का आचरण करना। स्वाध्याय मे प्रमाद न करना। आचार्य की दक्षिणा दे देने पर सन्तति-उत्पादन की परम्परा विच्छिन्न न करना। सत्य से न हटना। धर्म से न हटना। लाभ-कार्य में प्रमाद न करना। महान् बनने के शुभ-अवसर से न चूकना। पठन-पाठन के कर्त्तव्य में प्रमाद न करना। देवता और पितरों के कार्य (यज्ञ और श्राद्ध आदि) से आलस्य न करना। माता को देवी समझना। पिता को देवता समझना। आचार्य को देवता समझना। अतिथि को देवता समझना। अन्यान्य दोषरहित कार्यों को करना।[20] इस कथन से स्पष्ट है कि मनुष्य के अनेकानेक उत्तरदायित्व थे, जिन्हें वह शिक्षा-प्राप्ति के बाद सोत्साह मनोनिवेश-पूर्वक निष्पन्न करता था।

सभी वर्णों और जातियो के अपने पृथक्-पृथक् कर्म थे, जिनको सम्पादित करना उनका परमधर्म था। सबके अपने व्यवसाय थे, जिनके अनुसार वे अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह करते थे। शिक्षा और ज्ञान के कारण मनुष्य अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति करता था, अपने पारिवारिक उत्तरदायित्वों को निष्पन्न करता था तथा अपने उद्देश्यो को पूरा करने मे सन्नद्ध हो जाता था। कार्य-विभाजन के अनुसार सभी वर्णो और जातियो के भिन्न-भिन्न कर्म थे, जिनका अनुपालन करना सभी लोगो का अपना कर्त्तव्य था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के अपने विभिन्न कर्म थे, जिन्हे वे निष्ठापूर्वक सम्पादित करते थे। यद्यपि ऐसे भी उदाहरण मिलते है जब इन वर्णों के कतिपय सदस्यो ने आपत्तिकाल मे अपने वर्णगत कार्य का त्याग करके, दूसरे वर्णो के कर्म अपना लिये, जिससे वे अपने परिवार और समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य का निर्वाह कर सके।

(५) सांस्कृतिक जीवन का उत्थान—

शिक्षा और विद्या के माध्यम से मनुष्य के सास्कृतिक जीवन का भी उत्कर्ष होता है। शिक्षा से ही अतीत की सस्कृति वर्तमान मे जोती है तथा पहले से चली आती हुई परम्पराये जीवन्त हो उठती हैं। अत. अपनी सन्तति को शिक्षा द्वारा ही शिक्षित करना और प्राचोन सस्कृति की ओर प्रवृत्त करना इसका प्रधान लक्ष्य था। वैदिक साहित्य तथा अन्यान्य विषयो का ज्ञान और उसका प्रसार, शिक्षा का प्रधान आधार था। वेदो को कण्ठस्थ करना और उन्हे यत्नपूर्वक मस्तिष्क मे सुरक्षित रखना, तत्कालीन शिक्षार्थी का प्रधान कर्त्तव्य था, साथ ही आर्य सस्कृति का प्रधान उद्देश्य भी।

सास्कृतिक जीवन के उन्नयन के लिये ऋण से मुक्ति को अनिवार्यता मानी गयी।[21] प्रत्येक द्विज परिवार मे इन तीनो ऋणो की सम्यक्रूपेण पूर्ति करना प्रधान कर्त्तव्य था। वस्तुतः ब्रह्मचर्य आश्रम का पालन कर व्यक्ति ऋषिऋण से तथा सन्तान (प्रजनन) द्वारा पितृऋण से उऋण होता था। देव-ऋण, ऋषि-ऋण और पितृ-ऋण ये तीन ऋण थे, जिनसे मनुष्य को मुक्त होना अवश्यभावी था। देव-ऋण से तब मुक्ति मिलती थी, जब परिवार-समाज मे यज्ञ सम्पन्न किये जाते थे। ऋषि-ऋण से छुटकारा ग्रन्थो का सागोपाग अध्ययन करने से मिलता था। पितृ-ऋण सन्तान उत्पन्न करने से उतरता था। इस प्रकार मनुष्य के सास्कृतिक जीवन का विकास होता था।

ऊपर के विश्लेषण से स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय शिक्षा के उद्देश्य अत्यन्त उदात्त और गरिमामय थे, जिनकी दार्शनिक पीठिका अत्यन्त दृढ़ और

सशक्त थी। यही कारण है कि प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति एक सुनियोजित और सुव्यवस्थित मार्ग से अग्रसर हुई तथा शिक्षा के विभिन्न आयामों को पराकाष्ठा तक पहुँचाया।

सन्दर्भ—

1—अथर्ववेद, ११।३।१५
2—रश्मिमाला, १०।२, व्रताना पालनेनैव तद्गूढमात्मदर्शनम्।
जायते यमिना नूनमात्मविश्वासकारणम्॥
3—छा०उ०, ४।१०१, उपकौशलो ह्वै कामलायन. सत्यकामे बाबले ब्रह्मचर्यमुपास। तस्य ह द्वादश वर्षाण्यग्नीन् परिचर्चा।
4—मनु० २।६६, उपनीय गुरु. शिष्य शिक्षयेच्छौचमादित.।
आचारमग्निकार्य च सध्योपासनमेव च, तै०उ०, १।११, ...धर्म चर .....
धर्मान्त... प्रमदितव्यम्।
5—तै०उ०, १।११, अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तिविचिकित्सा वा स्यात्, ये तत्र ब्राह्मण. सर्भाशिनी युक्ता आयुक्ता आलूक्षा धर्मकाया स्यु यथा ते तत्र वर्तेरन्, तथा तत्र वर्तेथा। अथाभ्यारव्यातेषु। ये तेषु वर्तेरन तथा तेषु वर्तेथा।
6—अमृतमन्थन, १५।४, सर्वे धर्मा: क्षय यान्ति यदि सत्य न विद्यते।
7—छा० उ०, ३।१७।४, अथ यत्तयो दानमार्जवमहिसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणा।
8—छा०उ०, २।३१।३, त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययन दानमिति प्रथमः। तप एव द्वितोया। ब्रह्मचर्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्। सर्वे एते पुण्यलोका भवन्ति।
9—महाभारत, अनुशासनपर्व, १२।३२।७८।
10—अथर्ववेद, ११।५।२४, ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् विभर्त्ति। तस्मिन देशअधि विश्वे निषेदु॥
11—वही, ११।५।४, ब्रह्मचारी समिधा मेखलया। श्रमेण लोकास्तपसा पिपर्ति॥
12—वही, ११।५।१७, ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्र वि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते॥
13—गोपथ ब्राह्मण, १।२, १-७।

१४–अमृत मन्थन, ११।४५-४६, सर्वेषामपि भूतानां यत्तत्कारणमव्ययम्। कूटस्थ शाश्वतं दिव्य, वेदो बा, ज्ञानमेव यत् ॥ तदेतदुभयं ब्रह्म ब्रह्मणव्देन कथ्यते। तदर्हस्य व्रतं यस्य ब्रह्मचारी स उच्यते।

१५–प्रश्नो०,५।३, स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति।

१६–भा०गृ०सू०, १।५, अयं ते इघा आत्मा जात वेद तेन वर्द्धस्व चेद्धि वर्द्धय चार मान्।

१७–आश्व०गु०सू०, १।२०।६, देव सवितरेष ते ब्रह्मचारी स मा मृत।

१८–गीता, ६।१७, युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तास्वप्ना वबोधस्य योगी भवति दुःखहा॥

१९–तै०उ०, १।११, सत्य वद। धर्म चर। स्वाध्यायमात्मन् प्रमद.। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तु मा व्यवच्छेत्सीः सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्त प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्या न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्य देवो भव। अतिथि देवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि।

२०–श०ब्रा०, ११।५।५।

प्राचीन शिक्षा के प्रतिमान

—प्रो० डा० हर्षनारायण
लखनऊ

वैदिक जीवन-दृष्टि के अनुसार मनुष्य के तीन जन्म होते है। तीन प्रकार के जन्म, जिन्हे **शतपथ-ब्राह्मण** मे इस प्रकार निरूपित किया गया है–'त्रिर्हवै पुरुषो जायते । एतन्नु एव मातुश्चाधि पितुश्चाग्रे जायते, अथ य यज्ञ उपनयति स यद् यजते तद् द्वितीय जायते, अथ यत्र म्रियते यत्रैनामग्नावभ्याद-धति स यत् ततस् सम्भवति तत् तृतीय जायते।[1] अर्थात् प्रथम जन्म माता-पिता के प्रति माता के गर्भ से होता है। यह जन्म सर्वसाधारण है, सभी मनुष्यो का होता है। द्वितीय जन्म यज्ञ द्वारा होता है और तृतीय जन्म पुनर्जन्म है जो मरने और अग्नि को समर्पित होने के बाद मनुष्य को प्राप्त होता है। बृहन्नारदीय-पुराण मे तीन जन्म किंचिद भेद के साथ कथित है—

> 'ब्राह्मण , क्षत्रियो, वैश्यो, द्विजा प्रोस्तास्त्रिजस्तथा,
> मातृतश्चोपनयाद्, दीक्षाया जन्म वै क्रमात् ।'[1] क

यह तीसरा जन्म भी सर्वसाधारण है। इनमे से तृतीय जन्म वाच्यार्थन जन्मान्तर है, इस जीवन के बाद घटित होने वाला है, अत प्रथम दो जन्म इस जीवन मे महत्वपूर्ण हो जाते है। जिनके ये दोनो जन्म सिद्ध हो जाते है वे द्विज अथवा द्विजाति है, और शेष एक जाति। शास्त्रानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य (द्विज) द्विजाति है, जबकि शूद्र (एकज)—एक जाति।

> 'ब्राह्मणाः, क्षत्रिया, वैश्यास्त्रयो वर्णा द्विजातय ,
> चतुर्थ एकजातिस् तु शूद्रो , नास्ति तु पंचमः ।'[2]

प्रथम जन्म तो सभी प्राणियो का होता है, द्वितीय जन्म ही मनुष्य-कारक है, वास्तविक है, स्थायी है, स्थायी महत्व का है—

> 'आचार्यस्त्वस्य या जाति विधिवद् वेदपारग ,
> उत्पादयति सावित्र्या सा सत्यां साजराऽमरा ।'[3]

इस द्वितीय जन्म के विषय मे **अथर्ववेद** की काव्यमयी उक्ति है—

'आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिण कृणुते गर्भमन्त. ।
त रात्रीस् तिस्र उदरे विभर्ति, त जातं द्रष्टुमभिसयन्ति देवा. ।'[4]

अर्थात् आचार्य ब्रह्मचारी (छात्र) को, उसका उपनयन-सस्कार करते हुए, तीन रात अपने गर्भ मे धारण करता है और इस प्रकार से उत्पन्न ब्रह्मचारी को देखने के लिए देवता भी दौड पडते हैं।

द्वितीय जन्म की तुलना मे प्रथम जन्म का कितना कम महत्व है, यह **शतपथ-ब्राह्मण** के अधोलिखित वक्तव्य से स्पष्ट हो जाता है—

'मनद्धे व वा अस्यात पुरा जान भवति। इद ह्याहु रक्षासि योषितमनुसचन्ते, तदुत रक्षास्येव रेत आदधतीति। अथात्राद्धा जायते यो ब्राह्मणो यो यज्ञात् जायते। तस्मादपि राजन्य वा वैश्यो वा ब्राह्मण इत्येव ब्रूयात्, ब्राह्मणो हि जायते यो यज्ञाज्जायते।'[5]

अर्थात् उपनयन अथवा दीक्षा के पूर्व जो जन्म हुआ होता है वह वस्तुत. अविनिश्चित ही होता है। कहते है कि उस जन्म मे राक्षसो के वीर्य का भी सम्मिश्रण रहता है। अत. वास्तविक जन्म वह है जो ब्रह्म (वेद) और यज्ञ द्वारा सम्पन्न होता है। और चूंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, ब्रह्म और यज्ञ से भी उत्पन्न होते हैं, अत क्षत्रिय और वैश्य को भी ब्राह्मण कह सकते है।

अस्तु छात्र की महिमा **अथर्ववेद** की उपर्युदाहृत इस उक्ति से भलीभाँति प्रकट होती है कि उसे उपनीत होकर निकलते देखने के लिए देवता दौड पडते हैं। **भारद्वाज-गृह्यसूत्र** मे तो यहाँ तक कहा गया है कि समावर्तन-सस्कार के पूर्व ब्रह्मचारी प्रात काल एक कमरे मे बन्द कर दिया जाता था, ताकि उसकी ज्योति सूर्य की ज्योति को लज्जित न कर दे।[6] वस्तुत विद्यार्थी के मार्ग से राजा भी हट जाता था।[7]

वस्तुत प्रथम जन्म प्रकृति मे होता है और द्वितीय जन्म सस्कृति मे। प्रथम जन्म प्राकृतिक होता है और द्वितीय जन्म सास्कृतिक और सस्कृति ही मनुष्य को अन्य प्राणियो से भिन्न करती है। वैदिक परम्परा के अनुसार मनुष्य का सस्कृति मे जन्म, उपनयन-सस्कार, यज्ञोपवीत-सस्कार से होता है। यह सस्कार सस्कृति, शिक्षा, आचार्यकुल अथवा गुरुकुल के लिए प्रवेशपत्र है। यह प्रवेशपत्र व्रतहीनो के लिए नही है, उनके लिए है जो सस्कृति के लिए व्रत लेने को तैयार हो, संस्कृति के प्रति प्रतिश्रुत और प्रतिबद्ध हो, अनृत से सत्य की ओर सक्रमण की निष्ठा रखते हो, जिसका सकेत अधोलिखित वेद-मन्त्र मे पाया जाता है—

'अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि, तच्छकेय, तन्मे राध्यताम् ।
'इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ।'[8]

व्रत से ही दीक्षा प्राप्त होती है, दीक्षा से दक्षिणा, दक्षिणा से श्रद्धा, और श्रद्धा से सत्य–

'व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाऽऽप्नोति दक्षिणाम्,
'दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति, श्रद्धया सत्यमाप्यते ।'[9]

विद्याव्रत प्राचीन काल मे प्राय 'द्विजों' (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यो) के लिए प्रतिपादित था। वस्तुत उक्त तीन वर्ण द्विज इसीलिए कहलाते थे कि उनका उपनयन, यज्ञोपवीत और व्रत द्वारा दूसरा जन्म सम्पन्न होता था। **बोधायन-गृह्यसूत्र** रथकार (बढई) के लिए भी उपनयन का द्वार खोलता है।[10] (रथकार वैश्य पुरुष और शूद्र स्त्री से उत्पन्न सन्तान का अभिधान है)। **महाभारत** से सूचना मिलती है कि अति प्राचीनकाल मे चाण्डालो को भी वेद-श्रवण (वेदाध्ययन) का अधिकार था--

'पुरा वेदान् ब्राह्मणा ग्राममध्ये घुष्टस्वरा वृषलान् श्रावयन्ति ।[11]

महाभारत के अधोलिखित श्लोक से भी यह सिद्ध होता है—

'सर्वे वर्णा-ब्राह्मणा ब्रह्मणाश् च सर्वे-नित्य व्याहरन्ते त ब्रह्म ।
'तत्व शास्त्र ब्रह्मबुद्ध्या ब्रवीमि, सर्व विश्व ब्रह्म चैतत् समस्तम् ।'[12]

अहिर्बुध्न्य-संहिता चारो वर्णो को वेदाध्ययन का अधिकार देती है–

'ये ह्री ब्रह्ममुखादिभ्यो वर्णाश्चत्वार उद्‌गता,
'ते सम्यगधिकुर्वन्ति त्रय्यादीना चतुष्टयम् ।'[13]

जैमिनि से प्राचीनतर मीमासासूत्रकार बादरि वैदिक धर्म-कर्म मे शूद्र का भी अधिकार मानते थे—

'निमित्तार्थेन बादरि, तस्मात् सर्वाधिकार स्यात् ।'[14]

भारद्वाज-श्रौतसूत्र के अनुसार किन्ही आचार्यों का मत है कि शूद्र भी तीनों वैदिक अग्नियाँ जला सकता है।'[15] लघुविष्णुस्मृति पचमहायज्ञ का अधिकार शूद्र को देती है—

'पचयज्ञविधान तु शूद्रस्यापि विधीयते ।'[16]

वृद्धहारीत-स्मृति शूद्र को भी मन्त्राधिकार देती है—

'मन्त्राधिकारिण· सर्वे, ह्यनन्यशरणा यदि ।'[17]

महाभारत मे शूद्रसहित चारों वर्णों के वेदाधिकार के सम्बन्ध मे एक विधि-वाक्य भी प्राप्त होता है—

'श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रत. ।
वेदस्याध्ययन हीद, तच्च कार्यं महत् स्मृतम् ।'[18]

और यजुर्वेद मे अत्यन्त सुस्पष्ट शब्दावली मे मन्त्राधिकार शूद्र आदि सबको दिया गया है—

'यथेमा वाच कल्याणीमावदानि जनेभ्य ।
ब्रह्म-राजन्याभ्या, शूद्राय, चार्याय च, स्वाय, चारणाय च ।'[19]

इस प्रकार सिद्ध होता है कि यद्यपि शूद्र को वेदाध्ययन का अधिकार सामान्यत: वर्जित था, तथापि ऐसे आचार्य हो गये हैं जिन्होने वेदाध्ययन का द्वार शूद्र के लिए खोलने का उपक्रम किया ।

स्वामी दयानन्द ने एक स्थान पर लिखा है— 'और जो कुलीन शुभ लक्षणयुक्त शूद्र हो, तो उसको मन्त्रसहिता छोड के सब शास्त्र पढ़ावे । शूद्र पढे परन्तु उसका उपनयन न करे, यह मत अनेक आचार्यो का है । [20] हमे उन आचार्यों का पता नही ।'

स्त्रियो के वेदाध्ययन आदि को लेकर भी प्राचीन ग्रन्थो मे मतभेद पाया जाता है । पुराण आदि मे शूद्र के साथ-साथ स्त्री को भी वेदाध्ययन का निषेध किया गया है—

'स्त्री-शूद्र द्विजबन्धूनां त्रयो न श्रुतिगोचरा ।
इति भारतमाख्यान कृपया मुनिना कृतम् ।'[21]

किन्तु अति प्राचीनकाल मे स्त्री का यज्ञोपवीत भी होता था और उसे वेदाध्ययन तथा गायत्री का भी अधिकार था—

'पुराकल्पेषु नारीणा मौन्जीबन्धनमिष्यते,
अध्यापनं च वेदाना, सावित्रीवचन तथा ।'[22]

अथर्ववेद मे कन्या के लिए भी ब्रह्मचर्य के बाद विवाह का विधान है—
'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ।'[23]

स्कन्दपुराण की अंगभूत **सूतसंहिता** में कण्ठतः स्वीकार किया गया है कि वेदाभ्यास का अधिकार द्विज-स्त्रियों को भी है—

'द्विजस्त्रीणामपि श्रोतयज्ञेऽधिकारिता ।'[34]

कहीं-कहीं 'यज्ञोपवीतनी' कन्या का भी उल्लेख है,[25] और यह भी आता है कि पति के साथ पत्नी भी वेद-पाठ करे ।'[26] और **गोभिल गृह्यसूत्र** मे यह बात साफ की गई है कि पत्नी बिना पढे हवन नही कर सकती—'न हि खलु अनधीत्य शक्नोति पत्नी होतुम् ।'[27] मध्व-सम्प्रदाय मे अधोलिखित श्लोक प्रचलित है—

'आहुरप्युजमस्त्रीणामधिकार तु वेदिके ।
यथोर्वशी समीचैव, शच्याधाश् च, तथाऽपरा ।'[28]

हारीत-स्मृति मे दो प्रकार की स्त्रियाँ मानी गयी हैं–ब्रह्मवादिनी और सद्योवधू । ब्रह्मवादिनी को उपनयन, मौजीबन्धन और स्वगृह मे भिक्षाचर्या का अधिकार है, जबकि सद्योवधू का उपनयन नही होता–'द्विविधा हि स्त्रियः-ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च । तत्र ब्रह्मवादिनमुनयन, अग्निन्धन, स्वगृहे भिक्षाचर्य च । सद्योवधूनामुपनयनम कृत्वा विवाह कार्य ।'[29]

इस प्रकार हम देखते है कि शूदो और स्त्रियो के उपनयनाधिकार और वेदाध्ययनाधिकार को लेकर प्राचीन काल मे दोनो परस्पर विरोधी मत प्रचलित थे ।

किन्तु यह मतभेद केवल वेदाध्ययन के सम्बन्ध में था, अध्ययन मात्र के सम्बन्ध मे नहीं । अन्य प्रकार के अध्ययन मे सैद्धान्तिक रूप से प्राय सबको अधिकार था, यहाँ तक कि ब्रह्मविद्या मे भी । जो शकराचार्य शूद्र के लिए वेदाध्ययन का बलपूर्वक निषेध करते है, वेद–मन्त्र सुननेमात्र से शूद्र के कान लाख और सीसे से भर देने की **गौतम-धर्मसूत्र** मे प्रतिपादित परम्परा का अनुमोदन उल्लेख करते है,[30] वे ही विदुर, धर्मव्याध आदि को आत्मज्ञानी[31], तथा वाचक्नवी, रैक्व आदि को ब्रह्मज्ञानी[32] मानते है, जबकि ये सब या तो शूद्र या शूद्रोत्पन्न है या अज्ञातजन्मा ।

एक बात और स्पष्ट है । सम्पूर्ण भारतीय निगमागम में सहशिक्षा की कोई कल्पना नही है । वस्तुत केवल पुरुषो के आचार्यकुलो, गुरुकुलों की सूचना प्राप्त होती है । आचार्य से ही दो स्त्रीलिग शब्द बनते हैं–आचार्यानी और आचार्या । आचार्यानी का अर्थ तो आचार्य-पत्नी है[33] किन्तु आचार्या को आचार्य

के समकक्ष अवश्य माना जाता है। वस्तुतः वैयाकरण 'आचार्या' शब्द का अर्थ करते हुए कहते हैं, 'आचार्यस्य स्त्री आचार्यानी। ——आचार्या स्वयव्याख्यात्री।'[34] और ऊपर टिप्पणी २२ मे जिस श्लोक का हवाला दिया गया है उसे उद्धृत करते हुए कहते हैं कि प्राचीनकाल मे जो ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ हो गयी हैं उन्ही को लक्ष्य करके उपाध्यायी और आचार्या शब्द बनाये गये है।[35] इससे स्पष्ट हो जाता है कि कभी स्त्रियाँ आचार्य भी हुआ करती थी, और आचार्य की परिभाषा **मनुस्मृति** मे इस प्रकार की गई है—

'उपनीय तु य· शिष्य वेदमध्यायेद् द्विज·,
सकल्पं सरहस्य च तमाचार्य प्रचक्षते।'[36]

अर्थात्, वेद का अध्यापक आचार्य कहलाता था, अत वेद की अध्यापिका आचार्या कही जाती थी। तथापि उनकी अध्यापन-सस्था अथवा अध्यापन-प्रक्रिया आदि के विषय मे, जहाँ तक हमे पता है, परम्परा नही है। ऐसा नही सुना जाता कि अमुक कन्या यज्ञोपवीतनी अथवा उपनीत होकर किसी आचार्या के कुल मे अध्ययनार्थ गयी हो।

यही दशा 'उपाध्यायी' शब्द की है। उपाध्यायानी उपाध्याय-पत्नी और उपाध्यायी स्वय व्याख्यात्री। ऊपर टिप्पणी ३३ से ३५ तक दिये हुए सन्दर्भो मे इस पर भी उसी प्रकार विचार हुआ है। उपाध्याय की परिभाषा देते हुए मनु कहते हैं कि जो वेद का केवल एक अश अथवा वेदान्त पढाये और वह भी वृत्ति लेकर, उसे उपाध्याय कहते है—

'एकदेश तु वेदस्य वेदागान्यपि वा पुन·,
योऽध्यापयति वृत्यर्थमुपाध्याय स उच्यते।'[37]

उपाध्यायी के विषय मे वही प्रश्न उठता है जो आचार्या के प्रसग में अभी उठाया गया है।

यहाँ प्रसंगत यह भी उल्लेखनीय है कि वृत्ति लेकर विद्या-दान को प्राचीनकाल मे निन्दनीय माना जाता था। शास्त्र-विक्रयी की निन्दा सर्वत्र है। कालिदास ज्ञान बेचने वाले को वणिक् घोषित करते है —

'यस्यागम· केवल जीविकार्य त ज्ञानपण्य वणिज वदन्ति।'[38]

अस्तु, छात्र दो प्रकार के होते थे—(१) अन्तेवासी,[39] अथवा 'आचार्यकुलवासी'[40] और (२) 'दण्डमाणव'[41]— जैसे आजकल के छात्रावासी और दैनन्दिन विद्यार्थी।

प्राचीनकाल मे पाठ्यक्रम तीन प्रकार का था—(१) वेद-विद्या (त्रयो-विद्या) (२) धर्मशास्त्र–मोक्षशास्त्र और (३) लोकायत (सेक्युलर)। वेदाध्ययन चरणो मे और शाखाओ मे होता था। वेद के अनेक चरण, अनेक शाखाये बन गये। प्रत्येक शाखा से सम्बद्ध विशालकाय वांग्मय बन गया–अनुशाखा, ब्राह्मण, अनुब्राह्मण, आरण्यक, निषद्, उपनिषद्, कल्प, अनुकल्प। शाखाध्यायिनी स्त्रियाँ भी होती थी। कठशाखाध्यायिनी 'कठी' इत्यादि।[43] वेद–विद्या (त्रयो–विद्या) का प्रचार-प्रसार मुख्यत ब्राह्मणों मे रहा। राजाओ के लिए भी इस विद्या का अध्ययन शास्त्रत अनिवार्य था, यद्यपि व्यवहार मे इस प्रकार का राजन्य–वर्ग के बीच घटता गया है। धर्मशास्त्र का प्रचार ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनो वर्णों मे था। मोक्षशास्त्र की शिक्षा-दीक्षा मे क्षत्रिय एक समय, उपनिषत्काल मे ब्राह्मणो से बाजी मार ले गये। **छान्दोग्योपनिषद्** मे ब्रह्मविद्या विशेष के सम्बन्ध मे राजा प्रवाहण जैबलि के मुख से ब्रह्मर्षि गौतम के प्रति कहलाया है, 'इय न प्राक् त्वत. पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति।'[43] **बृहदारण्यकोपनिषद्** मे भी कहा गया है, 'इय विद्येत. पूर्व न कस्मिश्चन ब्राह्मण उवाच।'[44] **गीता** मे कृष्ण का वक्तव्य है कि उनके द्वारा उपदिष्ट कर्मयोग राजर्षि परम्परा में ही प्रचार–प्रसार को प्राप्त हुआ।'[45] इस विद्या मे आगे चलकर श्रमणो ने भी पर्याप्त योगदान किया। इसी मे आन्वीक्षिकी, दर्शनशास्त्र अथवा तर्कशास्त्र का भी विकास हुआ, जिसे ब्राह्मण आरम्भ मे शका की दृष्टि से देखते थे। काश्यप के प्रति श्रृगालत्वापन्न इन्द्र की उक्ति **महाभारत** मे इस प्रकार है—

> 'अहमास पण्डितका, हेतुका वेदनिन्दक,
> आन्वीक्षिकी तर्कविद्यामनुरक्तो निरर्थकाम्।
> हेतुवादान् प्रवदिता, वक्ता संसत्सु हेतुमत्,
> आक्रोष्टा, चाभिवक्ता च, ब्रह्मवाक्येषु च द्विजान्,
> नास्तिक, सर्वशगी च, मूर्ख, पण्डितमानिक,
> तस्येय फलनिर्वृत्ति श्रृगालत्व मम द्विज।'[46]

लोकायत बाद मे चलकर चार्वाक का पर्याय बन गया, परन्तु मूलतः वह लौकिक विद्यात्मक शास्त्रसम्भार के रूप मे उद्भावित हुआ था। वैदिक ब्राह्मणो और धर्मदर्शनज्ञ ब्राह्मणो. क्षत्रियो और श्रमणो की समता मे लोकायतिक ब्राह्मणो का भी एक वर्ण बन गया था। रामायण मे राम, भरत से प्रजा का कुशल-मगल पूछते हुए लोकायतिक ब्राह्मणो का भी कुशल-क्षेम पूछते हैं। यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि उसी सन्दर्भ मे उनके प्रति निन्दा का स्वर पीछे से मिला दिया गया है—

> 'कच्चिन् न लोकायतिकान् ब्राह्मणान् तात। सेवसे ?
> अनर्थकुशला ह्येते बाला : पण्डितमानिन।'[47]

जो विद्याये पढाई जाती थी उनकी सूचियाँ प्राप्त होती हैं। राजन्य वर्ग के लिए आन्वीक्षिकी अर्थात् तर्कशस्त्र, वेदत्रयी, वार्ता अर्थात् आज के शब्दों में अर्थशास्त्र, और दण्डनीति अर्थात् राजनीति–ये चार विद्याएँ निर्धारित थीं।'[48] विद्याओं की दो लम्बी सूचियाँ हैं, एक चौदह की और दूसरी अट्ठारह की। चौदह विद्याओं की गणना इस प्रकार की गई है–

'पुराण-न्याय-मीमासा-धर्मशास्त्राग-मिश्रिताः,
वेदाः स्थानानि विद्याना धर्मस्य च चतुर्दश।'[49]

अर्थात् पुराण, न्याय, मीमासा, धर्मशास्त्र छह वेदाग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष) और चार वेद–यही चौदह विद्याएँ है। इनमे चार उपवेद जोड दे तो सख्या अट्ठारह हो जाती है–

'अगानि वेदाश्चत्वारो, मीमासा, न्यायविस्तरः।
पुराण, धर्मशास्त्र च–विद्या ह्येताश्च चतुर्दश।
आयुर्वेद., धनुर्वेदः, गान्धर्वश्च चैव ते त्रयः,
अर्थशास्त्र चतुर्थ तु–विद्या ह्यष्टादशैव ता।'[50]

उपवेद और भी है जिनकी गणना नही की गई है। वे प्राय सभी लौकिकविद्याविषयक है। हम समझते है कि लोकायत–परम्परा का मूल, उपवेद ही है। इसलिए इसके अध्येता पहले ब्राह्मण हुए, जिनको सज्ञा लोकायतिक ब्राह्मण पडी। बाद मे उन्होंने अन्यो को दीक्षा दी और लोकायत–परम्परा वर्णाश्रम–साकर्य द्वारा अन्तत चार्वाक के रूप मे परिणित हो गयी। नारद ने जिन विद्याओ का अध्ययन किया था उनकी सूची इस प्रकार है–'ऋग्वेद भगवो। अध्येमि, यजुर्वेद, सामवेदमाथर्वण चतुर्थमितिहासपुराण पचम वेदाना वेद, पित्र्य, राशि, दैव, निधि, वाकोवाक्यमेकायन, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, नक्षत्र-विद्या, क्षत्रविद्या, सर्पदेवजन–विद्याम्।'[51]

प्राचीन शिक्षा के विषय मे एक बात अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कम से कम वेद-विद्या और धर्मशास्त्र–मोक्षशास्त्र की शिक्षा का उद्देश्य केवल बुद्धि का सस्कार नही था। **निरुक्त** मे उदाहृत **सहितोपनिषद्ब्राह्मण** तथा **वसिष्ठ–स्मृति** का वचन है–

'विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम, गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेदयताय न मा ब्रूया, वीर्यवती यथास्याम्॥'[52]

अर्थात् विद्या ब्राह्मण के पास आई और बोली—मेरी रक्षा करो। तुम यदि मुझे हृष्ट-पुष्ट देखना चाहते हो तो मुझे ईर्ष्याद्वेष से आक्रान्त, बेईमान और असंयमी के पास न भेजना।

ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए आचार्य के आदेश पर वर्षों ब्रह्मचर्यवास करना पड़ता था, तपस्या और श्रम करना पडता, जैसा नचिकेता के उपाख्यान से ज्ञात होता है। वेदान्त आदि शास्त्र पढने के लिये साधनाएँ निर्धारित की जाती थी। शंकराचार्य ने उनका समाहार साधन–चतुष्टय मे किया है। षट्क-सम्पत्ति (शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधि और श्रद्धा), नित्यानित्यवस्तु-विवेक, इहामुत्रार्थभोगविराग और मुमुक्षुत्व।[53]

किन्तु यह एक प्रकार की धर्मशिक्षा है जो उच्चतर शिक्षा की अनिवार्य पूर्वपीठिका थी। आज भी धर्मशिक्षा की बात उठती है, किन्ही विश्वविद्यालयो मे इसकी व्यवस्था भी यत्किचित है, किन्तु वैसे ही जैसे कि शराब मे गगाजल। अकबर इलाहाबादी का शेर है —

> 'नयी तालीम मे भी मजहबी तालीम शामिल है,
> मगर यूँही कि जैसे आबेजमजम मे मै दाखिल है।

इसके अतिरिक्त धर्मशिक्षा का व्यावहारिक रूप तो आज सोचा भी नही जा रहा है।

किन्तु प्राचीन शिक्षा मे, इसके कारण और अन्यथा भी, अतिगोपनीयता की प्रवृत्ति बढ गयी थी, जिसके परिणामस्वरूप बहुत-सारा ज्ञान-विज्ञान आचार्यों अथवा उनके इने-गिने शिष्यो के साथ ही लुप्त हो गया।

वैदिक शिक्षा सदा मौखिक हुआ करती थी। लिखित-पाठक की निन्दा की गयी है—

> 'गीती, शीघ्री, शिरस्कम्पी, तथा लिखित-पाठक,
> अनर्थज्ञो, अल्पकण्ठश्च—षडेते पाठकाधमा'[54]

नियम से मौखिक वेदाध्ययनाध्यापन का परिणाम यह हुआ कि वैदिक संहिताओ मे पाठभेद, उच्चारणभेद, सस्करणभेद आदि अनेक भेद उत्पन्न हो गये और तीन-चार के स्थान पर ग्यारह सौ तीस-इकत्तीस अथवा इससे भी अधिक सहिताएँ अस्तित्व में आ गयी। साथ ही साथ इनमे प्राय प्रत्येक ने अपने-अपने स्वतन्त्र ब्राह्मण, अनुब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदे, कल्प और अनुकल्प उद्-भावित कर लिये। वस्तुत. इस प्रकार इतना विशाल वैदिक वाग्मय उपस्थित हो

गया, जो अध्येताओ और अध्यापकों के नियन्त्रण से बाहर हो गया, विशेषतः उनके मौखिक अध्ययनाध्यापन के आग्रह के कारण। फलतः अनेक शाखाओं को अध्येता-अध्यापयिता नही मिले, और अधिकतर उनका लोप हो गया। आज हमे केवल ग्यारह पूर्ण संहिताएँ और एक अपूर्ण संहिता प्राप्त होती है। ब्राह्मण और आरण्यक उससे भी कम मिलते है। कल्पसूत्रों की भी यही दशा है। उपनिषदें कुल लगभग दो सौ प्राप्त होती हैं, जिनमे से अधिक से अधिक बीस ही प्राचीन हैं।

वैदिक ग्रन्थ-राशि कण्ठस्थ करते-करते अध्येताओं की आयु का बडा भाग व्यतीत हो गया था और प्राचीन सन्दर्भों के अनुशीलन से पता चलता है कि यह भी प्रवाद प्रचलित हो चला था कि इससे बुद्धि पर भी कुप्रभाव पड़ता है। युधिष्ठिर के प्रति भीम कह जाते हैं—

> 'श्रोत्रियस्यैव ते राजन् मन्दकस्याविपश्चितः,
> अनुवाक-हता बुद्धिर्नैषा तत्वार्थदर्शिनी।'[55]

यहाँ युधिष्ठिर के प्रति खीझ के कारण भीम उनकी बुद्धि की उपमा श्रोत्रिय की मन्द वेदवाक्यो से कुण्ठित बुद्धि से देते हैं। कालिदास पुरूरवा के मुख से उर्वशी के रूपलावण्य का बखान कराते-कराते यहाँ तक कहला गये हैं कि ऐसा मनोहर रूप वेदाभ्यासजड़ ब्रह्मा भला कैसे रच सकते हैं—

> 'अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः।
> शृंगारैकरस. स्वय नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
> वेदाभ्यास जड. कथ नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो:
> निर्मातु प्रभवेन्मनोहरमिद रूप पुराणो मुनि ।'[56]

कुछ ऐसी ही बात श्रीमद्भागवत के अधोलिखित श्लोक में भी कही गई है—

> 'प्रायेण वेद तदिदं न महाजनोऽयं,
> देव्या विमोहितमतिर्बत माययाऽलम्।
> त्रय्या जड़ीकृतमतिर्मधुपुष्पितायां,
> वैतानिके महति कर्मणि युज्यमानः।'[57]

इन परिस्थितियों में यदि वैदिक ज्ञान-विज्ञान के लोप की स्थिति आ पहुँची हो तो कोई आश्चर्य नही।

धर्मशास्त्र और मोक्षशास्त्र का अध्ययनाध्यापन भी अधिकतर मौखिक ही था। तदर्थ सूत्र बने, फिर उन पर भाष्य, वार्तिक, बृत्ति, टीका आदि व्याख्या-ग्रन्थों की रचना हुई। स्मरण-सौन्दर्य के लिए कारिकाएँ भी लिखी गयी। लिपिबद्ध करने का चलन कम होने के कारण अनेक ग्रन्थ उनके रचयिताओं-अध्येताओं के साथ ही कालकलवित हो गये। हमे तो अब केवल बची-खुची ग्रन्थराशि उपलब्ध है।

लोकायत, लौकिक विषयों से सम्बद्ध साहित्य की भी यही दशा है। उपवेदों का तो अब केवल नाम ही रह गया है।

यहाँ यह भी उल्लेख है कि यहाँ कभी मूवदेव अपर नाम कर्णीसुतकरण्टक रचित स्तेयशास्त्र भी हुआ करता था।'[58] इस प्रकार के अन्य ग्रन्थ भी थे। पता नही उनके अध्ययनाध्यापन की व्यवस्था थी या नही।

बौद्धों के उत्कर्ष-युग मे नालन्दा, विक्रमशिला और उदन्तपुरी जैसे विश्वविद्यालयों की परम्परा का पता चलता है। नालन्दा मे प्रवेश के लिए प्रखर पाण्डित्य की शर्त थी। प्रवेशार्थी को द्वार-पण्डितो से शास्त्रार्थ करके अपनी अर्हता सिद्ध करनी पडती थी। वह आज की अपेक्षा अधिक सही अर्थों मे उच्च-शिक्षा का केन्द्र था।

सन्दर्भ

१—शतपथ ब्राह्मण ११-२-१-१

१—क बृहन्नारदीय पुराण २२-८

२—मनु-स्मृति १०-४

३—तत्रैव २-१४८

४—अथर्ववेद १९-५-३

५—शतपथ-ब्राह्मण ३-२-१-४०

६—भारद्वाज-गृह्यसूत्र २-१-८

७—मनु-स्मृति २-१३८-१३९

८—यजुर्वेद १-५-तु० २-१८

९—तत्रैव १९-३०

१०—बौधायन-गृह्यसूत्र २-५-८-६

११—महाभारत, अनुशासन-पर्व ६४-११

१२—तत्रैव, शान्ति-पर्व ३१८-८६

१३—अहिर्बुध्न्य-संहिता १५-२०-२१

१४—मीमासा-सूत्र ६-२-७-२७

१५—भारद्वाज-श्रौतसूत्र ५-२-८ द्रष्टव्य जरनल आफ वैदिक स्टडीज, सितम्बर १९३४

१६—लघुविष्णु-स्मृति ५-६
१७—वृद्धहारीत-स्मृति ६-२५७
१८—महाभारत, शान्ति-पर्व ३२७-४६
१६—यजुर्वेद २६-२
२०—स्वामी दयानन्द, सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ३, सं० युधिष्ठिर मीमांसक, १६७२, पृ० ६७।

२१—श्रीमद्भागवत १-४-२५
२२—मनुपरिशिष्ट, पृ० १४
२३—अथर्ववेद ११-५-१८
२४—सूतसंहिता, शिवमाहात्म्यखण्ड ७-२०
२५—गोभिल-गृह्यसूत्र, प्रपाठक १, खण्ड १
२६—आश्वलायन-श्रौतसूत्र १-२, गोभिल गृह्यसूत्र १-३, २-३, पारस्कर० ६-२-१, आपस्तम्ब० १२-३-१२

२७—गोभिल-गृह्यसूत्र १-३
२८—मध्वः, ब्रह्मसूत्रभाष्यम्, जगन्नाथयति-कृत भाष्यदीपिका सवलित, गोपालकृष्णाचार्य। स० (मद्रास: ग्रोव प्रेस, १६००), १-१-१, पृ० ३१

२६—हारीत-स्मृति ३।।२३
३०—शकर, शारीरक भाष्य १-३-३६, गौतम-धर्मसूत्र २-३-४
३१—शारीरक भाष्य १-३-३८
३२—तत्रैव ३-४-३६
३३—पाणिनि, अष्टाध्यायी ४-१-४६
३४—भट्टोजि दीक्षित, सिद्धान्तकौमुदी, स्त्रीप्रत्ययप्रकरण १५, —सूत्र ४-१-४६,

३५—वासुदेव दीक्षित, बालमनोरमा, तत्रैव
३६—मनु-स्मृति २-१४०
३७—तत्रैव २-१४१
३८—कालिदास, मालविकाग्निमित्र १-१७
३६—अष्टाध्यायी ४-३-१३०, छान्दोग्योपनिषद् ४-१०-१, आदि आदि।
४०—छान्दोग्योपनिषद् २-२३-१
४१—अष्टाध्यायी ४-३-१३०

४२–पतञ्जलि महाभाष्य, प्रदीपोद्द्योत–सहित, ४-१-६३
४३–छान्दोग्योपनिषद् ५-३-७
४४–बृहदारण्यकोपनिषद् ६-२-८
४५–श्रीमद्भगवतगीता ४-१-२
४६–महाभारत, शान्ति-पर्व १८०-४७-४९
४७–वाल्मीकि रामायण २-१००-३८
४८–मनु-स्मृति ७-४३
४९–याज्ञवल्क्य-स्मृति १-३
५०–विष्णु-पुराण ३-६-२८-२९
५१–छान्दोग्योपनिषद् ७-१-२
५२–संहितोपनिषद् ब्राह्मण, राधाकमल मुकर्जी, ऐंशेट इण्डियन एजुकेशन, पृ० ३७-३८ के अनुसार, निरुक्त १-२-४,

वसिष्ठ-स्मृति २-१४, तु० मनु-स्मृति २-११४

५३–शारीरक भाष्य १-१-१
५४–पाणिनीय-शिक्षा ३२
५५–महाभारत, शान्ति-पर्व १०-१
५६–कालिदास, विक्रमोर्वशीय १-१०
५७– श्रीमद्भागवत ७-३-२५
५८–करणीसुत: करण्टकः स्तेयशास्त्रप्रवर्तक:······इति बृहत्कथायां कथा निबद्धा। भानुचन्द्रमणि, कादम्बरी-निरन्तरव्याख्या (निर्णयसागर प्रेस, १९२१), पृ० ३९।

परिसर परिक्रमा

भारतीय मनोविज्ञान पर ग्रीष्मकालीन संस्थान

—डा० हरगोपाल सिंह
प्रोफेसर, मनोविज्ञान विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में यूनिवर्सिटी ग्रान्ट्स कमीशन द्वारा आयोजित भारतीय मनोविज्ञान पर ग्रीष्मकालीन संस्थान का आयोजन २५ जून से ९ जुलाई १९८६ तक किया गया, जिसमे अखिल भारतीय विश्वविद्यालयो से आये प्रोफेसरों ने प्रशिक्षण लिया। इस सस्थान का उद्घाटन-भाषण २५ जून को देते हुए डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, विश्वविद्यालय विजिटर ने कहा कि वैदिक युग से भारत आत्मचिन्तन, उन्नत मानव-व्यवहार तथा मनोविज्ञान मे पारंगत रहा है। इस प्रकार का ज्ञान कितने ही आर्ष ग्रन्थों मे भरा पड़ा है जिसे विदेशो में प्रकाशित करना भारतीय मनोवैज्ञानिकों का उत्तरदायित्व है। अपने स्वागत-भाषण में माननीय श्री आर. सी. शर्मा, कुलपति ने बताया कि भारतीय मनोविज्ञान पर इस प्रकार का यह प्रथम आयोजन है जिसकी शुरुआत भारतीय सस्कृतिप्रधान सस्था गुरुकुल कागड़ी ने की है। यह शृखला अवश्य आगे बढेगी जिससे भारत मे मनोविज्ञान अधिक जीवनोपयोगी सामग्री प्रस्तुत कर सकेगा और मानवजीवन अधिक सुखी बन सकेगा।

इस सस्थान मे वैदिकमनोविज्ञान, मनोचिकित्सा, योगमनोविज्ञान, व्यक्तित्व प्रकार एव संवर्धन, गीता का मानस ज्ञान, स्वर विज्ञान और मानव व्यवहार, आयुर्वेदीय मानसरोग, विज्ञानभूत विद्या, जैन एव बौद्ध मनोविज्ञान, उपनिषद् एवं पुराणों मे मनोविज्ञान, भारतीय एव पाश्चात्य मनोविज्ञान की तुलना, भारतीय मनोविज्ञान पर सामग्री संकलन, शोधप्रक्रिया के सम्भावित विषयों का उच्चस्तरीय प्रशिक्षण दिया गया। इसके डायरेक्टर प्रोफेसर हरगोपाल सिंह के साथ बाहर से आये विद्वानों ने भी प्रशिक्षण दिया। प्रशिक्षणार्थियों ने यहाँ रहकर भारतीय मनोविज्ञान के विभिन्न विषयो पर शोधपत्र लिखकर प्रस्तुत किये।

९ जुलाई को समापन-समारोह के अध्यक्षीय-भाषण में डा० ए. के. सिन्हा,

रिटायर्ड प्रोफेसर कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय ने कहा कि भारतीय संस्कृति सबसे पुरानी संस्कृति है और आत्मा, मन और मानवव्यवहार ऐसे विषय हैं जिनमे भारत विश्व को निर्देशन दे सकता है। योगमनोविज्ञान द्वारा मानव व्यवहार को उन्नत कर देवत्व तक पहुँचाया जा सकता है और बहुत-सी अलौकिक सिद्धियाँ भी प्राप्त की जा सकती है। प्रोफेसर रामप्रसाद, उप-कुलपति ने शिक्षार्थियों को कोर्स प्रमाणपत्र वितरित किये। डायरेक्टर प्रोफेसर हरगोपाल सिह ने कोर्स की रिपोर्ट मे प्रशिक्षण की विस्तृत जानकारी देते हुए आशा प्रकट की, कि प्रशिक्षार्थियो के उत्साह से स्पष्ट है कि वे अपने विश्वविद्यालयो में जाकर अवश्य भारतीय मनोविज्ञान का पठन-पाठन और शोध-कार्य प्रारम्भ करेंगे जिससे मनोविज्ञान की विषयसामग्री के साथ-साथ इसकी अन्य उपयोगितायें भी बढेगी। अन्त मे श्री वीरेन्द्र अरोडा, कुलसचिव ने विश्वविद्यालय की ओर से सबको धन्यवाद दिया।

वृक्षारोपण समारोह : हिमालय पर्यावरण शोध योजना

—डा० बी०डी० जोशी
निदेशक, हिमालय शोध योजना
जन्तु विज्ञान विभाग,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार (उ० प्र०)

विगत कई वर्षों से दुनिया भर की समस्त सरकारें हमारे बदलते और बिगडते पर्यावरण के प्रति अत्यधिक सवेदनशील हो चुकी हैं। इन्ही भावनाओं के अन्तर्गत भारत सरकार का पर्यावरण, वन तथा वन्य-जन्तु विभाग भी पर्यावरण सुधार की दिशा मे अत्यन्त व्यग्रता तथा जागरूकता के साथ, पर्यावरण सुरक्षा की दिशा में अनेक समन्वित योजनाओं के द्वारा पूरे देश में अनेक छोटी-बडी योजनाएँ चला रहा है। इसी प्रकार की अनेक योजनाओं में से एक योजना हमारे विश्वविद्यालय के जन्तु विज्ञान विभाग द्वारा भी चलायी जा रही है। योजना को हम संक्षेप मे 'हिमालय पर्यावरण शोध योजना' के नाम से जानते हैं। मूलत यह योजना तीन वर्षों की अवधि के लिए स्वीकृत हुई है। विश्वविद्यालय प्रशासन के सौजन्य से मुझे इस वृहत् शोध योजना का निदेशक होने का सौभाग्य मिला है। यह योजना हमारे द्वारा, महाकवि कालीदास द्वारा वर्णित "अभिज्ञान शाकुन्तलम्" की पृष्ठभूमि के रमणीय क्षेत्र महर्षि कण्व की तप स्थली, मालनी नदी द्वारा पोषित, कण्व घाटी मे चलायी जा रही है। सुनते हैं, आज से हजारो वर्ष पूर्व इस घाटी मे कण्व ऋषि अपना, लगभग दस हजार छात्रों का एक ऋषिकुल चलाते थे। इसी कण्व घाटी मे महाप्रतापी राजा दुष्यन्त का अप्सरा-पुत्री शकुन्तला से परिणय-बन्धन हुआ था। इन्ही घाटियों में राजकुमार भरत का जन्म हुआ था और वह विभिन्न प्रकार के हरिणों, मृग-शावकों, व्याघ्रो, शारदूलों, मयूर आदि अन्य वन्य-जन्तुओं के साथ क्रीडा करते थे। तब अभिज्ञान शाकुन्तलम् के अनुसार घाटियाँ नाना प्रकार की सुगन्धित पुष्प-लताओं, मालती कुञ्जो, आम्र वाटिकाओं, पाटल, कदली, विल्व और साल वृक्षों की सघनता से आच्छादित थी। मालनी एक निर्मल, मोहक, पावन धारा के रूप मे बहती थी।

आज यह सब प्राकृतिकता प्रायः लुप्त-सी हो चली है। इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए, मालनी के विकराल रूप को एक संयमित सौन्दर्य प्रदान करने, स्थानीय स्तर पर बाढ नियन्त्रण हेतु हमारी योजना के अन्तर्गत विगत लगभग एक वर्ष से इस क्षेत्र में कार्य किया जा रहा है।

हमारी इस योजना के अनेक कार्यों में से एक महत्वपूर्ण कार्य वार्षिक वृक्षारोपण शिविरों का आयोजन करना भी है। इसी उद्देश्य से हमने १ अगस्त १९८६ से १२ अगस्त १९८६ तक एक १२-दिवसीय वृक्षारोपण शिविर का आयोजन किया। इस शिविर मे इन्दिरा प्रियदर्शनी इन्टर कालेज, मोटाढाक, कोटद्वार जिला पौड़ी गढवाल के १०० छात्रो ने भाग लिया तथा इस इन्टर कालेज के व्यवस्थापक श्री देवानन्द बलोधो तथा कालेज के अनेक गुरुजनों के अमूल्य सौजन्य तथा सहयोग से ही इस शिविर को सफलता प्राप्त हुई।

इस शिविर का औपचारिक उद्घाटन ३ अगस्त १९८६ के दिन भारत सरकार के पूर्व वाणिज्य राज्य मन्त्री तथा सम्प्रति पेट्रोलियम मन्त्री माननीय श्री ब्रह्मदत्त जी द्वारा पौध लगाकर किया गया। इस अवसर पर उपस्थित जन-समुदाय को सम्बोधित करते हुए माननीय मन्त्री जी ने हिमालय के शाश्वत महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा कि हिमालय की पर्वत शृंखलाएँ, न केवल वन और खनिज सम्पदाएँ देती हैं, अपितु जीवनदायिनी गंगा-यमुना जैसी पवित्र नदियों का स्रोत भी हिमालय ही है। यह नदियाँ मात्र जल की धाराएं ही नही अपितु गंगा-यमुना के दोआब में जन्मी तथा फली-फूली महान भारतीय संस्कृति की जननी भी हैं। यदि हम हिमालय के जर्जर होते पर्यावरण की रक्षा नही कर पायेंगे तो भारतीय संस्कृति स्वयमेव विनष्ट हो जायेगी। वृक्षारोपण के महत्व पर विस्तार से आर्थिक विश्लेषण करते हुए उन्होने कहा कि यदि आज हम एक लाख वृक्ष लगा सकें और इनमें से यदि ५० हजार वृक्ष भी दस वर्ष तक जीवित रह सकें और प्रतिवृक्ष यदि मात्र सौ रुपया भी मिलता है, तो दस वर्ष बाद हमे पचास लाख रुपये प्राप्त होंगे। अब यदि एक पौधे के ऊपर औसत पांच रुपया प्रतिवर्ष की लागत से व्यय भी किया जाये तो भी हमें लगभग २०-२५ लाख रुपयों का शुद्ध लाभ तो मिलेगा ही, हमारा पर्यावरण भी संवर्धित होगा। इसी तरह हिमालय की घाटियों में बहनेवाली नदियों के प्रवाह को बांध कर हम यत्र-तत्र जल विद्युत गृहों का जाल-सा बिछा सकते हैं। इससे भी हमारा पर्यावरण संवर्धित होगा, हजारों लोगों को रोजगार मिलेगा और हम पैदा हुई बिजली का सदुपयोग औद्योगीकरण हेतु तथा अन्य प्रान्तों को निर्यात हेतु कर सकते हैं।

मन्त्री महोदय ने गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय द्वारा चलायी जा रही इस शोध-योजना की प्रगति पर अत्यन्त सन्तोष प्रकट किया तथा विश्वविद्यालय के कुलपति श्री आर०सी० शर्मा जी की प्रशंसा करते हुए कहा कि श्री शर्मा हमारी उत्तर प्रदेश सरकार के एक अत्यन्त सुयोग्य और अनुभवी प्रशासक रहे हैं। मुझे विश्वास है कि श्री शर्मा के कुशल नेतृत्व में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय प्रत्येक क्षेत्र में चतुर्मुखी उन्नति करेगा। माननीय मन्त्री जी ने योजना के निदेशक को भी बधाई देते हुए, वृक्षारोपण के कार्य को और अधिक विस्तृत क्षेत्र में बढ़ाने का सुझाव दिया।

इस अवसर पर माननीय मन्त्री जी का स्वागत करते हुए कुलपति श्री आर० सी० शर्मा जी ने बताया कि उन्हे इस क्षेत्र के प्रति पहले से ही बहुत लगाव है, क्योंकि भारतीय प्रशासनिक सेवा के अन्तर्गत, आज से २६ वर्ष पूर्व, वह कोटद्वार-लैन्सडाउन क्षेत्र के डिप्टी कलेक्टर रह चुके हैं। माननीय कुलपति जी ने मन्त्री महोदय को आश्वासन देते हुए कहा कि हमारा विश्वविद्यालय देश की प्रगति के हर सोपान से जुड़ा है और आज गुरुकुल अपनी चारदीवारी से बाहर निकल कर, समाज तथा पर्यावरण के सर्वांगीण विकास में इन योजनाओ के माध्यम से अत्यन्त सक्रिय है।

इस अवसर पर मन्त्री महोदय का स्वागत करते हुए, उपस्थित जन-समुदाय को विश्वविद्यालय के उपकुलपति आचार्य रामप्रसाद वेदालकार जी ने भी सम्बोधित किया। उन्होने भारतीय संस्कृति में वृक्ष और वन के महत्व की व्याख्या करते हुए वृक्षारोपण को एक पुण्य यज्ञ कहा।

इसी अवसर पर उपस्थित समुदाय को बद्री-केदार क्षेत्र के विधायक श्री संतन बड़थ्वाल, पौड़ी के कांग्रेस (इ) के अध्यक्ष श्री मधुर शास्त्री जी ने भी सम्बोधित किया और योजना द्वारा स्थानीय जनता को अपने साथ लेकर, स्थानीय जलवायु के अनुकूल वृक्षों की नर्सरी बनाकर, कण्व घाटी की ग्रामीण जनता में निःशुल्क पौध वितरण करने के लिए योजना के निदेशक डा० जोशी को बधाई दी।

इस बारह-दिवसीय शिविर के दौरान शिविरार्थियों ने लगभग ६-७ हेक्टेयर भूमि में २०-२५ हजार पौधों का रोपण किया। बारह दिन की अवधि में इतने क्षेत्रफल से झाड़ियों को साफ कर और फिर २०-२५ हजार गड्ढे खोद कर पौध लगाना अपने आप में एक महान कार्य रहा। इस शिविर के दौरान प्रमुखतः शीशम, कन्जु, खैर, और पापुलर की क्रमशः ६ हजार, ६ हजार, १० हजार तथा ३ हजार पौध लगायी गईं। इनमें से १० हजार पौध स्थानीय वन विभाग द्वारा, ३ हजार पौध स्थानीय सिंचाई विभाग द्वारा उपलब्ध करायी

गई। शेष लगभग १२ हजार पौध योजना की अपनी नर्सरी से ली गई।

इस शिविर का औपचारिक समापन समारोह १३ अगस्त १९८६ को इन्दिरा प्रियदर्शनी इन्टर कालेज, मोटाढाक के प्रागण मे हुआ। इस समारोह की अध्यक्षता वहाँ के स्थानीय भू० पू० ब्लाकप्रमुख श्री चन्द्रसिह रावत जी ने की, जो कि एक वयोवृद्ध स्वतन्त्रता सेनानी भी रहे हैं। समापन समारोह के मुख्य अतिथि के रूप मे बोलते हुए लैन्सडाउन वनप्रभाग के उप-वनसंरक्षक श्री मदनमोहन तिवारी जी ने हिमालय पर्यावरण शोध योजना द्वारा व्यापक वृक्षारोपण की सराहना करते हुए वनविभाग द्वारा भविष्य मे भी सहयोग देने की बात कही।

अन्त मे अब यह कहना उचित प्रतीत होता है कि वृहत् बजर क्षेत्रो मे पौध लगाना समस्या नही है अपितु वास्तविक समस्या तो लगाये गये पौधों की सुरक्षा की है। इसके लिए किसी भी स्तर पर, सामाजिक, आर्थिक अथवा प्रशासनिक व्यवस्था का प्रबन्ध सरकार को ही करना होगा।

आभार

अपनी इस हिमालय पर्यावरण शोध योजना के समस्त सदस्यों की ओर से मैं सबसे पहले तो भारत सरकार के पर्यावरण एव वन मन्त्रालय के प्रति आभारी हूँ कि उन्होने हमे यह वृहत् शोध योजना प्रदान की। माननीय श्री ब्रह्मदत्त जी के प्रति भी हम अत्यन्त कृतज्ञ है कि आप ससदीय सत्र के चलते हुए भी अपनी व्यस्तता मे से समय निकाल कर हमारे मध्य आये। मैं विशेष रूप से अपने कुलपति श्री आर सी. शर्मा जी का आभारी हूँ, जिन्होने अत्यन्त रुचि लेकर हमे समय-समय पर प्रेरणा दी। योजना की ओर से हम विश्वविद्यालय के उपकुलपति जी, कुलसचिव जी, वित्त अधिकारी महोदय, प्राचार्य विज्ञान महाविद्यालय प्रो० सुरेशचन्द त्यागी जी के भी आभारी है, जिन्होने अत्यन्त खराब परिस्थितियो एव प्रतिकूल मौसम के बावजूद भी विभिन्न प्रकार से हमारी सहायता की तथा शिविर मे आये।

पुस्तक समीक्षा

पुस्तक का नाम	—	**भारतेन्दु और भारतीय नव जागरण**
सम्पादक	—	**शम्भुनाथ, अशोक जोशी**
प्रकाशन	—	**आने वाला कल, ६३ राधा बाजार स्ट्रीट, कलकत्ता**
मूल्य	—	**४५ रुपये**
पृष्ठ सख्या	—	२१२

भारतीय नव जागरण ने भारतीय भाषाओं के साहित्य और चिन्तन को बहुत दूर तक प्रभावित किया। हिन्दी के आधुनिक युग का सूत्रपात नव जागरण के विद्रोही स्वरों के बीच हुआ, इसे प्राय सभी विद्वान् एक मत से स्वीकार करते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० रामविलास शर्मा, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय तथा श्री मदनगोपाल प्रभृति विद्वानो ने १८५७ के स्वाधीनता आन्दोलन और राष्ट्रीय सवेदना के परिप्रेक्ष्य मे भारतेन्दु की रचनाओ और विचारधारा का मूल्यांकन किया है। देश के नव जागरण कर्मियो मे राजा राम-मोहन राय, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, महर्षि दयानन्द सरस्वती, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, लोकहितवादी गोपालहरि देशमुख तथा कर्सन दास मूल जी के नाम प्रमुख है। इन्होने बगाल, गुजरात, महाराष्ट्र तथा उत्तर भारत मे सामाजिक और सास्कृतिक जागरण की नई रोशनी फैलाई। राजा राममोहन राय की भी अपेक्षा अधिक आधुनिक दृष्टि यग बंगाल आन्दोलन के जन्मदाता तथा हिन्दू कालेज के प्राध्यापक हेनरी विवियन डेरोजिओ के पास थी जिसने फ्रासीसी क्रान्ति से प्रेरणा ग्रहण कर, मुक्तचिन्तन को प्रमुखता दी तथा नारी शिक्षा की माँग करते हुए मुक्ति, समानता के लिए ह्रासोन्मुख परम्पराओ के त्याग की ओर प्रेरित किया। राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रमुख नेता सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी ने डेरोजिओ की प्रशसा की है।

महर्षि दयानन्द और भारतेन्दु ने हिन्दीभाषी क्षेत्र मे पाखड-खडन, भारतीय अस्मिता के प्रतिष्ठापन, जर्जर प्रथाओ और रूढियो के निरसन तथा स्वाधीनताप्राप्ति के लिए भारतीयो को प्रेरित किया। भारतेन्दु वैष्णव सस्कारों के होते हुए भी दयानन्द जी के प्रति इतने श्रद्धावान थे कि दयानन्द जी के काशी पधारने पर उनकी अगवानी के लिए स्टेशन पर पहुँचे। भारतेन्दु का बलिया में दिया गया भाषण दयानन्द के विचारो की छाया है। स्वामी जी भारत को सब प्रकार से उन्नत देखना चाहते थे। उन्होने बड़ौदा में कहा था

कि भारतवासी योग्य हो जावे तो विदेशी लोग स्वयं कह देंगे कि अब तुम अपना शासन-प्रबन्ध आप करो। स्वामी जी ने राज्य-व्यवस्था से लेकर व्यक्ति-निर्माण तक के लिए वैदिक विचारधारा से पुष्ट आचार-संहिता दी थी। भारतेन्दु ने भारत-दुर्दशा, जातीय संगीत तथा नये जमाने की मुकरियाँ आदि लिखकर देशवासियों को पराधीनता के विरुद्ध लड़ने के लिए खड़ा किया। १८८४ मे दिये गए बलिया-भाषण की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

'भाइयो, अब तो नीद से चौंको, अपने देश की सब प्रकार उन्नति करो। जिसमें तुम्हारी भलाई हो, वैसी ही किताब पढ़ो; वैसे ही खेल खेलो, वैसी ही बातचीत करो। परदेशी वस्तु और परदेशी भाषा पर भरोसा मत रखो। अपने देश मे, अपनी भाषा मे उन्नति करो।'

स्वामी दयानन्द ने १८८३ के एक पत्र में रावराजा तेजसिंह को लिखा 'स्वदेशोन्नति में आप सब लोगों को उत्साह करके, आप लोगों के द्वारा एक आर्यावर्त देश की बढ़ती कराके, इस महापुण्य कीर्ति के भागी आप लोगो को करें।'

भारतेन्दु ने नव जागरण के प्रचार के लिए कवियों का एक मण्डल तैयार किया। कुछ लोगो ने भारतेन्दु की १८८२ में प्रकाशित कविता 'विजयनी विजय वैजयंती' को लेकर उन पर राजभक्ति का आरोप लगाया है, पर दयानन्द की तरह राष्ट्रीयतावादी कथ्य के अनुयायी भारतेन्दु, उदार शासन की प्रशंसा की आड मे भारतवासियों की दुर्दशा तथा औपनिवेशिक आतंकवाद की धज्जियाँ उड़ाने मे सदा तत्पर रहे। भारतेन्दु ने १८५७ का विद्रोह दयानंद की तरह तो नही जिआ था, पर आतंकवाद को गहराई के साथ अनुभव किया था। इसीलिए उन्होंने कहा—

'कठिन सिपाही द्रोह अनल जा जन-बल नासी
जिन भय सिर न हिलाइ सकत कहुँ भारतवासी।

डा० रामविलास जी के बाद भारतेन्दु के समग्र मूल्यांकन पर शंभुनाथ और अशोक जोशी के सम्पादन में उक्त पुस्तक उल्लेखनीय कही जा सकती है। इस पुस्तक की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें बीस विद्वानो ने भारतेन्दु के अलग-अलग पक्षों पर अधिकारपूर्वक लिखा है। डा० शिवकुमार मिश्र का निबन्ध 'भारतेन्दु : अन्तर्विरोधो के बीच से', शम्भुनाथ का निबन्ध 'राष्ट्रीय जागरण और भारतेन्दु'; डा० परमानंद श्रीवास्तव का निबन्ध 'भारतेन्दु की सार्थकता', डा० कुँवरपाल सिंह का निबन्ध 'भारतेन्दु की पत्रकारिता', डा० विश्वंभरनाथ उपाध्याय का निबन्ध 'भारतेन्दु का पुनर्मूल्यांकन' तथा चंचल चौहान का निबन्ध 'भारतीय राष्ट्रवाद का उदय और भारतेन्दु के नाटक' इस पुस्तक के महत्वपूर्ण लेख हैं जिनमें नई जानकारी के साथ हिन्दी पाठकों को भारतीय जागरण के सांस्कृतिक इतिहास को सुनने-जानने का अवसर मिलता है। दयानंद और भारतेन्दु के बीच होने वाले वैचारिक मतभेद को भी इस पुस्तक में उरेहा गया है। पर यह कम आश्चर्य की बात नहीं कि

पौराणिक संस्कृति का कट्टर प्रतिवाद करने वाले स्वामी जी के प्रति राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन की दृष्टि से भारतेन्दु का गहरा लगाव है। डा॰ शिवकुमार मिश्र का यह कथन भी असगत जान पडता है कि 'स्वामी जी का वैदिक वाङ्मय की गरिमा का प्रतिपादन अपनी जगह सही है परन्तु वे कदाचित् भारतीय मानस को उसके तल पर जाकर नही पहचान सके, फलत उनका आर्य समाज देश के एक सीमित भाग तक ही अपना प्रभाव डालकर रह गया।' बात यह है कि आर्यसमाज, नव जागरण और हिन्दी कविता का तथ्याश्रित मूल्याकन हिन्दी मे वैसा नही हुआ जैसा होना चाहिए था। 'आर्य समाज का इतिहास' का पाँचवा खण्ड डा॰ सत्यकेतु विद्यालंकार तथा डा॰ भवानीलाल भारतीय के सम्पादन मे प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ में पहली बार, उस सारी सामग्री पर अधिकृत रूप से प्रकाश डाला गया है जिससे स्पष्ट होता है कि भारतीय नव जागरण और साहित्य के इतिहास मे आर्यसमाजी रचनाकर्मियो की कितनी प्रभावशाली भूमिका रही है। हिन्दी के शास्त्रीयतावादी, शुद्ध कलावादी तथा प्रगतिवादी समीक्षको ने प्रस्तावित पुस्तक मे भारतेन्दु के योगदान का विवेचन-विश्लेषण किया है। भारतेन्दु की भाषानीति, इतिहास-बोध, सगठनभावना, भक्ति, नाट्य रचनात्मकता, मिथक-प्रयोग, हास्य और व्यग्य, खडी बोली कविता तथा आधुनिकता पर भी विद्वान् लेखको ने अधिकारपूर्वक लिखा है। मैं शभुनाथ जी के इस प्रस्ताव से सहमत हूँ— 'भारतेन्दु की रचनावली सबसे पहले छपनी चाहिए थी लेकिन यह काम अभी तक नही हुआ।' भारतेन्दु की अनेक ऐसी रचनाएँ हैं जो भारतेन्दु ग्रन्थावली (तीन भाग) मे सकलित नही हैं। उनकी अनेक कविताएँ, टिप्पणियाँ तथा पत्र नजर से दूर हैं और धीरे-धीरे विलुप्त होने की प्रक्रिया मे हैं। सग्रहालयो से 'कविवचन सुधा' और 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' आदि की अनेक फाइले गायब हो चुकी हैं। इसी तरह बहुत-सी चीजे खो रही है या उन पर धूल जमी हुई है। **जब कोई जाति अपने सांस्कृतिक इतिहास तथा परम्परा के प्रति इतना अधिक उदासीन हो जाती है कि इन्हें बचाने की बुद्धिमत्ता धीरे-धीरे खोने लगती है तो सोचना पड़ता है कि संकट जितना कहा जा रहा है, उससे ज्यादा गहरा है।**

भारतेन्दु की जन्मशती पूरे देश मे मनाई गई। सरकार ने भी बडे-बडे अनुदान आयोजनो के लिए दिए। समारोह हुए और हवा मे विलीन हो गए। भारतेन्दु का रचना-ससार जनसाधारण तक न पहुँच सका। भारतेन्दु के प्रति सहज और सही समझ बनाने में 'भारतेन्दु और भारतीय नव जागरण' पुस्तक सहायक सिद्ध होगी, इसका मुझे पूर्ण विश्वास है, पर भारतेन्दु का शास्त्र-प्रतिष्ठापक तथा ब्रजभाषाकाव्यकर्मी रूप अपनी मौलिकता और परम्परा के साथ पुस्तक मे प्रतिष्ठित नही हो सका, यह एक कमी भी है।

साहित्यसाधना और जनसेवा भारतेन्दु के व्यक्तित्व के पूरक पक्ष हैं और इसीलिए वह लोकनायक हैं। परम्परा की वस्तुनिष्ठता के साथ की गई पहचान इस पुस्तक का मूल स्वर रही है, अत भारतेन्दुविषयक मूल्याकन मे इस पुस्तक की पहचान होनी ही चाहिए।

पुस्तक सग्रहणीय और पठनीय है।

—डा० विष्णुदत्त राकेश
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष
हिन्दी-विभाग
गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

पुस्तक का नाम	—	**भारतीय दर्शन की समस्यायें**
लेखक	—	**डा० जयदेव वेदालंकार**
प्रकाशक	—	**प्राच्य विद्या शोध प्रकाशन, हरिद्वार**
वर्ष	—	**१९८६**
पृष्ठ संख्या	—	**४००**
मूल्य	—	**१२५ रुपये**

प्रस्तुत पुस्तक एक समालोचनात्मक अध्ययन है जिसमे लेखक ने भारतीय दर्शन की बारह समस्याओ को निरूपित किया है। इसमे ज्ञानमीमासा, तत्व-मीमासा, ब्रह्म, जीवात्मा, सृष्टि-रचना, ख्यातिवाद, विज्ञानवाद एव शून्यवाद प्रामाण्यवाद, कर्मफल, अन्त करण, आचारशास्त्र और मोक्ष जैसी दार्शनिक समस्याओं का विवेचन सविस्तार एव तुलनात्मक रूप मे प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ मे वेद, उपनिषद्, षड्दर्शन, जैन-बौद्ध तथा मध्यकालीन आचार्य शकर, रामानुज, माधव और महर्षि दयानन्द की दार्शनिक मान्यताओ का विशद् रूप से विश्लेषण हुआ है।

प्रस्तुत ग्रंथ डा० जयदेव वेदालकार की परिश्रमपूर्ण रचना है। विषय की नवीनतम शोध-उपलब्धियो को हिन्दी भाषा मे उपलब्ध कराने का यह महत्वपूर्ण प्रयास है। हिन्दी भाषा मे दर्शन का इतिहास, क्रम से विवेचन तो अनेक विद्वानो ने किया है परन्तु दर्शन शास्त्र की समस्याओ को लेकर हिन्दी भाषा मे ग्रथ प्राय नही के बराबर है। डा० जयदेव ने इस ग्रथ मे भारतीय दर्शन की समस्या के विवेचन मे कही-कही पाश्चात्य दर्शन को भी उद्धृत किया है। विषय का चयन इस दृष्टि से किया गया है कि विश्वविद्यालय के छात्र, शोधार्थी तथा सामान्य पाठक, सभी इस ग्रंथ से लाभ उठा सकते है।

इस ग्रन्थ की सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि दर्शन शास्त्र की प्रमुख समस्याओ पर वैदिक मान्यताओ का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। विषयो का गठन बडी योग्यता से किया गया है। प्रतिपादन में कही दुरूहता नही है तथा भाषा मजी हुई है। समस्याये प्रामाणिक ढंग से उठायी गयी है। प्रत्येक विषय के विवेचन मे भारतीय दर्शन की कोई शाखा प्रतिनिधित्व से वंचित नही की गयी है।

डा० हर्षनारायण ने ठीक ही लिखा है कि "लेखक का अपना एक सुनिश्चित, सुचिन्तित दृष्टिकोण है जो ग्रन्थ मे साद्यन्त प्रतिफलित पाया जाता है। मैं समझता हूँ कि यह इस ग्रन्थ की प्रमुख विशेषता है।"

—**डा० विनोदचन्द्र सिन्हा**
प्रोफेसर एव अध्यक्ष
प्राचीन भारतीय इतिहास विभाग
गु० कां० विश्वविद्यालय, हरिद्वार

परामर्शदातृ-मण्डल

१—श्री ओम्प्रकाश मिश्र	—	प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, मनोविज्ञान-विभाग
२—डा० राधेलाल वार्ष्णेय	—	प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, अंग्रेजी-विभाग
३—डा० निगम शर्मा	—	रीडर तथा अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग
४—डा० जयदेव वेदालंकार	—	रीडर तथा अध्यक्ष, दर्शन-विभाग
५—डा० भारतभूषण विद्यालंकार	—	रीडर, वेद-विभाग
६—डा० जबरसिंह सेंगर	—	रीडर, इतिहास विभाग
७—श्री चन्द्रशेखर त्रिवेदी	—	रीडर, मनोविज्ञान विभाग

मुद्रक—जैना प्रिन्टर्स, ज्वालापुर